

वेर्षमानी की परत

(निराश-छंद)

ਲੋਕ ਮਾਨੀ
ਕੀ
ਪ੍ਰਦਾ

ਡਰਿਸ਼ਕਤ ਪਰਜਾਈ

ये निवंथ

पिछले सालों में लिखे ये निवंथों में से २२ इस पुस्तक में जा रहे हैं। कहानी के साथ ही मैं शुल्क से निवंथ भी लिखता रहा हूँ और यह विधा अपनो प्रकृतिगत स्वच्छंशता तथा स्थापकता के कारण मुझे बहुत प्रनुकूल भी प्रतीत हुई है। इसकी सभावनाओं का कितना उपयोग कर पाया हूँ, यह दूसरी बात है। इनमा जहर जानता हूँ कि निवंथ लिखते हुए मुझे सार्थकता और संतोष का प्रनुभव हुआ है।

मुख्य रूप से मैंने कहानियाँ लिखी हैं; वो इसमें भी मतभेद है कि वे नये शास्त्रीय मान से कहानियाँ हैं भी या नहीं। बहुत बारीक समझ के कुछ लोगों ने कहा भी है कि वे 'चीज़' मन पर असर तो डालती हैं, याद भी रहती हैं, गूँजती भी हैं—मगर उनके कहानी होने में दाक होता है। होता होगा। अपने पैर में जो जूता फिट न बैठे; उसे कोई जूता ही नहीं मानते। वे भूल जाते हैं कि कुछ जूते सिर के नाप के भी बनाये जाते हैं।

मगर यह निवंथ-संग्रह है। इसे पाठकों के हाथों में देते मुझे न सकोच है, न भिजक। मैं पूरे विद्यालय से दे रहा हूँ क्योंकि इतने बड़ों में मैंने पाठक पर भरोसा किया है और उसने मुझ पर। एक सास तरह का पाठक 'पालोचक' कहलाता है। उसने बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता।

क्रम

- पायल वसंत / ११
पहिला सफेद बाल / १७
गली तो चारों बंद हुईं / २२
गेहूँ का मुख / २८
निदा-रस / ३३
प्रेमचंद के कटे जुते / ३८
कविरा आप ठगाइये... / ४२
मखमल की म्यान / ४७
'बने हैं दोस्त नासेह !' / ५३
कंलेढ़र का मौसम / ५८
आई बरसा बहार / ६३
नीलकंठ / ६९
राम का दुख और मेरा / ७५
'लिटरेचर ने मारा तुम्हें' / ८०
माना कि रहेंगे दिल्ली / ८५
कहावनों का चक्कर / ९२
क्षय की रुमानियत / ९६
सहानुभूति / १०३
कचहरी जाने याता जनवर / १०६
धंदा / ११३
मुजला सुफला / ११६
बईमानी की परत / १२३

घायल वसंत

कल वसन्तोत्सव था । कवि वसंत के आगमन की सूचना पा रहा था—‘प्रिय, फिर आया मादक वसंत’ ।

मैंने सोचा, जिसे वसंत के आने का बोध भी अपनी तरफ से कराना पड़े, उस प्रिय से तो शत्रु अच्छा । ऐसे नासमझ की प्रकृति-विज्ञान पढ़ाएंगे या उससे प्यार करेंगे । मगर कवि को न जाने वयो ऐसा बेकुकु पसन्द आता है ।

कवि मग्न होकर गा रहा था—

‘प्रिय, फिर आया मादक वसंत !’

पहली पंक्ति सुनते ही मैं समझ गया कि इस कविता का अन्त ‘हा हत’ से होगा, और हमा । अत, संत, दिगत आदि के बाद सिवा ‘हा हत’ के कौन पद पूरा करता ? तुक की यही मजबूरी है । लीक के ऊर पर यही गहरा गदा होता है । तुक की गुलामी करोगे तो आरम्भ चाहे ‘वसंत’ में कर लो, अन्त जहर ‘हा हत’ से होगा । सिर्फ़ कवि ऐसा नहीं करता । और सोग भी, सयाने सोग भी, इस चक्कर में होते हैं । व्यक्तिगत घोर सामाजिक जीवन में तुक पर तुक चिठ्ठाते चलते हैं और ‘वसंत’ से शुरू करके ‘हा हत’ पर पहुँचते हैं । तुके वरावर फिट बैठती हैं, पर जीवन का आवेग निकल भागता है । तुके हमारा पीछा छोड़ ही नहीं रही है । हाल ही में हमारी समाजवादी सरकार के अध्येत्री ने दबा सोना निकालने की जो अपील की, उसकी तुक शुद्ध सर्वोदय से मिलायी—‘सोना दबाने वालों, देश के लिए स्वेच्छा से सोना दे दो ।’ तुक उत्तम प्रकार की थी; सौप तक का दिल नहीं दुखा । पर सोना चार हाथ और नीचे चला गया ।

गाविर कब हम तुक को तिलांजलि देंगे? कब वेतुका चलने की हिम्मत करेंगे?

कवि ने कविता समाप्त कर दी थी। उसका 'हा हंत' आ गया था। मैंने कहा, 'घतेरे की!' ७ तुको में हीट बील गया। राष्ट्रकवि इस पर कम से कम ५१ तुके वांधते। ६ तुकों तो उन्होंने 'चक्र' पर बांधी हैं। (देखो 'यशोधरा' पृष्ठ १३) पर तू मुझे क्या बताएगा कि वसंत आ गया। मुझे तो सुवह से ही मालूम है। सबेरे वसंत ने मेरा दरवाजा भी खटखटाया था। मैं रजाई ग्रोड़े सो रहा था। मैंने पूछा—'कौन?' जवाब आया—'मैं वसंत।' मैं घबड़ा उठा। जिस दूकान से सामान उधार लेता हूँ, उसके नीकर का नाम भी वसंतलाल है। वह उधारी वसूल करने आया था। कैसा नाम है, और कैसा काम करना पढ़ता है इसे! इसका नाम पतझड़-दास या तुपारापात होना था। वसंत अगर उधारी वसूल करता फिरता है, तो किसी दिन आनन्दकर यानेदार मुझे गिरफ्तार करके ले जाएगा और अमृतलाल जल्लाद फांसी पर टांग देगा!

वसंतलाल ने मेरा मुहूर्त बिगाढ़ दिया। इधर से कहीं ऋतुराज वसंत निकलता होगा, तो वह सोचेगा कि ऐसे के पास क्या जाना जिसके दरवाजे पर सबेरे से उधारी वाले खड़े रहते हैं! इस वसंतलाल ने मेरा मौसम ही खराब कर दिया।

मैंने उमे टाला और फिर ग्रोड़कर सो गया। ग्रांसें भैंप गयीं। मुझे लगा, दरवाजे पर फिर दस्तक हुई। मैंने पूछा—'कौन?' जवाब आया—'मैं वसंत!' मैं खीझ उठा—'कह तो दिया कि फिर आना।' उधर से जवाब आया, 'मैं वार-वार कब तक प्राता रहूँगा?' मैं किसी बनिये का नीकर नहीं हूँ; ऋतुराज वसंत हूँ। प्राज तुम्हारे द्वार पर फिर आया हूँ और तुम फिर सोते मिले हो। अलाल, अभाग, उठकर बाहर तो देख। ठूँठों ने भी नव पल्लव पहिन रखे हैं। तुम्हारे सामने की प्रीढ़ा नीम तक नदोढ़ा से हाव-भाव कर रही है—और वहुत भद्दी लग रही है।'

मैंने मुँह उधाड़कर कहा, 'भई, माझ करना, मैंने तुम्हें पहचाना नहीं। श्रपनी यही विछम्बना है कि ऋतुराज वसंत भी प्राए, तो लगता है, उधारी के तगादे वाला आया। उमंगें तो मेरे मन में भी हैं, पर यार, ठंड

बहुत लगती है।' वह जाने के लिए मुढ़ा। मैंने कहा, 'जाते-जाते एक छोटा-सा काम मेरा करते जाना। सुना है तुम ऊबड़-भावड़ चेहरी परों चिकना कर देते हो; 'फेसलिपिटग' के मच्छे कारीगर हो तुम। तो उत्तरा यार, मेरी सीढ़ी ठीक करते जाना उत्तर गयी है।'

उसे बुरा लगा। बुरा लगने की बात है। जो सुन्दरियों के चेहरे सुधारने का कारीगर है, उससे मैंने सीढ़ी सुधारने के लिए बहा। वह चला गया।

मैं उठा और शाल लपेटकर बाहर बरामदे में आया। हजारों सालों के संचित संस्कार मेरे मन पर लदे हैं; टनों कविन्कल्पनाएं जमी हैं। सोचा, वसंत है तो कोयल होगी ही। पर न कही कोयल दिसी न उसकी कूक मुनाई दी। सामने की हवेली के कगूरे पर बैठा कौशा 'कौव-कौव' कर उठा। काला, कुरुप, कक्ष कौमा—मेरी सौदर्य-भावना को ठेस लगी। मैंने उसे भगाने के लिए कंकड़ उठाया। तभी स्थाल आया कि एक परम्परा ने कौए को भी प्रतिष्ठा दे दी है। यह विरहणी को प्रियतम के आगमन का संदेश देने वाला माना जाता है। सोचा, कही यह प्राप्तपास की किसी विरहणी को प्रिय के माने का सगुन न बता रहा हो। मैं विरहणियों के रास्ते में कभी नहीं आता; पतिव्रतामों से तो बहुत ढरता हूँ। मैंने कंकड़ ढाल दिया। कौशा फिर बोला। नायिका ने सोने से उसकी चोच मढ़ाने का बायदा कर दिया होगा। शाम की गाढ़ी से घगर नायक की दोरे से वापिस आ गया, तो कल नायिका बाजार से माने वाले सामान की जो सूची उसके हाथ में देगी, उसमें दो तोले सोना भी लिखा होगा। नायक पूछेगा—'प्रिये, सोना तो घब काला बाजार में मिलता है। लेकिन तब तुम सोने का करोगी या ?' नायिका लजाकर कहेगी—'उस कौए की चोंव मढ़ाना है, जो कल सबेरे तुम्हारे माने का सगुन बता गया था।' तब नायक कहेगा—'प्रिय, तुम बहुत भोली हो। मेरे दीरे का कायंक्रम यह कौमा थोड़े ही बनाता है; वह कौशा बनाता है जिसे हम 'बड़ा साहब' कहते हैं। इस कलूटे की चोंच सोने से क्यों मढ़ाती हो ? हमारी दुर्दशा का यही तो कारण है कि हमाम कौए सोने से चोंच मढ़ाये हैं, और इधर हमारे पास हथियार खरीदने को सोना नहीं है। हमें तो कौमों की चोंच

से सोना चरोंच लेना है। जो आनाकानी करेंगे, उनकी चोंच काटकर सोना निकाल लेंगे। प्रिये, वह बड़ी गलत परम्परा है, जिसमें हँस और मोर की चोंच तो नंगी रहे, पर कोई की चोंच पर सुन्दरी खुद सोना मढ़े !' नायिका चुप हो जाएगी। स्वर्ण-नियंत्रण कानून से सबसे ज्यादा नुकसान कीदूरों और विरहणियों का हुआ है। अगर कोई ने १४ केरेट के सोने से चोंच मढ़ाना स्वीकार नहीं किया, तो विरहणी को प्रिय के आगमन की सूचना कौन देगा ?

कोशा फिर बोला। मैं इसमें युगों से घृणा करता हूँ; तब से, जब इसने सीता के पांव में चोंच मारी थी। राम ने अग्ने हाथ से फूल चुनकर, उनके आभूषण बनाकर साता को पहनाये। इसी समय इन्द्र का विगड़ेल देटा जयन्त आवारा-गर्दी करता वहाँ आया और कोशा बनकर सीता के पांव में चोंच मारने लगा। ये बड़े खादमी के निगड़ेल लड़के हमेशा दूसरों का प्रेम विगाड़ते हैं। यह कोशा भी मुझसे नाराज़ है, क्योंकि मैंने अपने घर के भरोसों में गोरेयों को घोंसले बना लेने दिये हैं।

पर इस गोसम में कोयल कहाँ है ? वह अमराई में होगी। कोयल से अमराई छूटती नहीं है, इसलिए इस वस्त में कोई की बन आयी है। वह तो मीठापरस्त है; पुसने के लिए गोल हूँहता है। कोयल ने उसे जगह दे दी है। वह अमराई की छाया में आराम से बैठी है। और इधर हर ऊँचाई पर कोशा देटा 'काँव-काँव' कर रहा है। मुझे कोयल के पक्ष में उदास पुगतन प्रेमियों की आह भी सुनाई देती है—'हाय, अब वे अमराई यहाँ कहाँ हैं कि कोयले बोलें। यहाँ तो ये शहर वस गये हैं और फारताने बन गये हैं।' मैं कहता हूँ कि मर्वन्त्र अमराई नहीं हैं, तो ठीक ही नहीं हैं। आपिर हम कब तक जंगली बने रहते ? मात्र अमराई और कुंज और बगीचे भी हमें प्यारे हैं। हम कारबने को अमराई से धेर देंगे और हर मुहूले में बगीचा लगा देंगे। अभी थोड़ी देर है। पर कोयल को धीरज के हाथ हमारा साथ तो देना 'था। कुछ दिन धूप ती हमारे साथ सहना था। जिसने धूप में साथ नहीं दिया, वह छाया कैसे बैटाएगी ? जब हम अमराई बना लेंगे, तब क्या वह उसमें रह सकेगी ? नहीं, तब तक तो कोई अमराई पर कब्जा कर लेंगे। कोयल को अभी आना

चाहिए। अभी जब हम मिट्टी खोदें, पानी सीर्चे और शाद दें, तभी मैं उमे गाना चाहिए।

कौपा फिर बोला। विरहणी की भावना का व्यापार करके मैं सह रहा हूँ।

मैं बाहर निकल पड़ता हूँ। चौराहे पर पहसु बसंती साढ़ी दिखी। मैं उसे जानता हूँ। योवन की एही दिल रही है—वह जा रहा है—वह जा रहा है। अभी कुछ महीने पहले ही शादी हुई है। मैं तो कहता था रहा था कि चाहे कभी ले, 'हली री यह ढाल बसन बासंती लेगी'—(निराला)। उसने बसन बासंती ले लिया। कुछ हजार मेरे उमे यह बूझा हो रहा पति मिल गया। वह भी उसके साथ है। बसंत का अन्तिम चरण और पतभड़ सा। जा रहे हैं। उसने माँग मेरे बहुत-सा सिंदूर चुपड़ रखा है। जिसकी ननी मुश्किल से शादी होती है, वह बेचारी उतनी ही बड़ी माँग भरती है। उसने उड़े भ्रमिमान से मेरी तरफ देखा। फिर पति को देखा। उसकी नजर मेरे ठसक और ताना है, जैसे घेंगूटा दिया रही है कि ले, मुझे तो यह मिल हो गया। मगर यह क्या? वह ढड़ से कौप रही है और 'सीसी' कर रही है। बसत मेरे बासंती साढ़ी को कैपकंपी छूट रही है।

यह कैसा बसत है जो शीत के ढर मेरे कौप रहा है? क्या वहा था विद्यापति ने—'सरस बसंत समय भल पामोति दृष्टिन पवन बहु धारे!' नहीं मेरे कवि, दक्षिण से ममय पवन नहीं वह रहा। यह उत्तर से बर्फीनी हवा था रही है। हिमालय के उस पार से आकर इस बर्फीली हवा ने हमारे बर्मन ला गला दवा दिया है।¹ हिमालय के पार बहुत-सा बर्फ बनाया जा रहा है जिसमे सारी मनुष्य जाति को मढ़ती की तरह जमा कर रखा जाएगा। यह बड़ी भारी साजिश है—बर्फ की साजिश! इसी बर्फ की हवा ने हमारे प्राते बसत को दवा रखा है।

यो हमें विश्वास है कि बसंत आएगा। शैली ने कहा है—प्रगर शीत

1. शीत की युद्ध और जाति सम्बन्धी शीति और भारत की शीता पर १८६२ में शीत का हमना,

आ गयी है, तो क्या वसंत बहुत पीछे होगा ? वसंत तो शीत के पीछे हुआ ही आ रहा है । पर उसके पीछे गरमी भी तो लगी है । अभी से शीत-जहर आ रही है तो फिर पश्चिम से लू भी तो चल सकत बफ़ और आग के बीच में हमारा वसंत फँसा है । इधर शीत उसे दबाते हैं और उधर से गरमो । और वसंत सिकुड़ता जा रहा है ।

मौसम की भेहरवानी पर भरोसा करेंगे, तो शीत से निपटते-निपटे लू तंग करने लगेगी । मौसम के इंतजार से कुछ नहीं होगा । वसंत प्राप नहीं आता; उसे लाया जाता है । सहज आने वाला तो पतझड़ है, वसंत नहीं । अपने प्राप तो पत्ते झड़ते हैं । नये पत्ते तो वृक्ष का प्रापीकर पैदा होते हैं । वसंत यों नहीं आता । शीत और गरमी के बीच जो जितना वसंत निकाल सके, निकाल ले । दो पाटों के बीच में फँदेश का वसंत । पाट और आगे खिसक रहे हैं । वसंत को बचाना जोर लगाकर इन दोनों पाटों को पीछे ढ़केलो—इधर शीत को, गरमी को । तब बीच में से निकलेगा हमारा धायल वसंत ।

पहिला सफेद बाल

माज पहिला सफेद बाल दिखा । कान के पास काने वालों के बीच
में भैरवते इस पतले रजत-तार ने सहसा मन को झकझीर दिया ।

ऐसा लगा जैसे बसंत में वनश्री देखता धूम रहा हूँ कि सहसा किसी
भाड़ी में शेर तिक्कल पड़े;

या पुराने जमाने में किसी मजबूत माने जाने वाले किले की दीवार
पर रात को बेफ्रिक धूमते गरबीते किलेदार को बाहर से चढ़ते हुए शत्रु
के सिपाही की कलगी दिख जाय;

या किसी पार्क के कुंज में अपनी राधा को हृदय से लगाए प्रेषी को
एकाएक राधा का बाप भाता दिख जाय;

कालीन पर चलते हुए कौटा चुभने का ददं बढ़ा होता है । मैं धन्नी
तक कालीन पर चल रहा था । रोज नरसीसम जैसी भ्रात्म-रति से भाईना
देखता था, धुधराले, काले केरों को देसकर, सहत्काकर, संवारकर, प्रसन्न
होता था । उम्र को ठेलता जाता था, वाढ़कर को झेंगूठा दिखाता था । पर
माज कान में यह सफेद बाल फुसफुसा उठा, 'भाई मेरे, एक बात
'कानफिलेस' में बहू—अपनी दूकान समेटना भव शुह कर दो !'

तभी से दुखी हूँ । ज्ञानी समझाएंगे—जो अवश्यंभावी है, उसके
होने का क्या दुख ? जी ही, मौन भी तो अवश्यभावी है । तो क्या
जिदगी-भर मरघट में अपनी चिता रखते रहें ? और ज्ञान से कहीं हर
दुख जीता गया है ? वे क्या कम ज्ञानी थे, जो मरणासन्न लक्षण का
सिर योद में लेकर विलाप कर रहे थे—'मेरो सब पुरणारण थाको !'
स्थितप्रश्न दर्शन भर्जुन को समझने वाले की पासें उद्घव से गोकुञ्ज की

व्यष्टि-कथा सुनकर, डबडवा आई थीं। मरण को त्यौहार मानने वाले ही मृत्यु से सबसे अधिक भयभीत होते हैं। वे त्यौहार का हल्ला करके अपने हृदय के सत्य भय को दबाते हैं।

मैं वास्तव में दुखी हूँ। सिर पर सफेद कफन बुना जा रहा है; आज पहिला तार ढाला गया है। उम्र बुनती जायगी इसे और यह यीवन की लाश को ढेंक लेगा। दुःख नहीं होगा मुझे? दुःख उन्हें नहीं होगा, जो बूढ़े ही जन्मे हैं।

मुझे गुस्सा है, इस आईने पर। वैसे तो यह बड़ा दयालु है, विकृति को सुधार कर चेहरा सुडील बनाकर बताता रहा है। आज एकाएक यह कैसे कूर हो गया! क्या इस एक बाल को छिपा नहीं सकता था? इसे दिसाए बिना क्या उसकी ईमानदारी पर बड़ा कलंक लग जाता? उर्दू कवियों ने ऐसे संवेदनशील आईनों का जिक्र किया है, जो माशूक के चेहरे में अपनी ही तस्वीर देसने लगते हैं; जो उस मुख के सामने आते ही गश खाफर गिर पड़ते हैं; जो उसे पूरी तरह प्रतिविम्बित न कर सकने के कारण चटक जाते हैं। सौदर्य का सामना करना कोई सेल नहीं है। मूसा बेहोश हो गया था! ऐसे भले आईने होते हैं, उर्दू कवियों के। और यह एक हिन्दी लेखक का आईना है!

मगर आईने का क्या दोष? बाल तो अपना सफेद हुआ है। सिर पर धारण किया, शरीर का रस पिलाकर पाला, हजारों शीशियाँ तेल की उड़ेल दीं—और ये घोखा दे गये। संम्यासी शायद इसीलिए इनसे छुट्टी पा सेता है कि उस विरागी का साहस भी इनके सामने लड़खड़ा जाता है।

आज आत्म-विश्वास उठा जाता है; साहस छूट रहा है। किले में आज पहिली सुरंग लगी है। दुश्मन को आते अब क्या देर लगेगी!

क्या कहूँ? इसे उखाड़ फेंकूँ? लेकिन सुना है, यदि एक सफेद बाल को उखाड़ दो, तो वहाँ एक गुच्छा सफेद हो जाता है। रावण जैसा वरदानी होता है, कम्बलत। मेरे चाचा ने एक नीकर सफेद बाल उखाड़ने के लिए ही रटा था, पर थोड़े ही समय में उनके सिर पर काँस फूल उठा था। एक तेल बड़ा 'मनराखन' हो गया है। कहते हैं उससे बाल काले हो जाते हैं। (नाम नहीं लियता, व्यर्थ प्रचार होगा) उस तेल को लगाके?

पर उससे भी शत्रु मरेगा नहीं, उसकी बद्दी बदल जायगी। कुछ सोग खिलाव समाते हैं। वे बड़े दयनीय होते हैं। बुदासे से हार मानकर, योवन का ढोंग रखते हैं। मेरे एक परिचित खिलाव समाटे थे। उनिवार को मैं जूँड़े लगते और सोमवार को जवान—इठवार उनका रेंगने का दिन था। न जाने दे छतती उम्र में काले बाल किसे दिखाते थे! शायद ही सरे बिवाह की पत्नी की। पर वह उन्हें बाल रेंगते देखती तो होगी ही। और वह स्त्री को केवल काले बाल दिखाने में योवन का भ्रम उत्पन्न किया जा सकता है? नहीं, यह सब नहीं होगा। शत्रु को सिर पर बिठाए रखना पड़ेगा। जानता हूँ, यह धीरे-धीरे सब बफादार बालों को घपनी और मिला लेगा।

याद आती है, मेरे समानयमां, कवि केशवदास की, जिसे 'चन्द्रबदन मृगलोचनी' ने बाबा कह दिया, तो वह बालों पर बरस पड़ा था। हे मेरे पूर्वज, दुमी, रमिक कवि! तेरे मन की ऐठन में घब बम्बूदी समझ सकता है। मैं चला आ रहा हूँ, तेरे पीछे। मुझे 'बाबा' तो नहीं पर 'दादा' बहने सकती है—बग, बोहा ही फ़ासला है!

मन बहुत विचलित है। आत्म-रति के परित्रेक का कन नरसीसस ने भोगा था, मुझे भी भोगना पड़ेगा। मुझे एक अन्य कारण से डर है। मैंने देखा है, सफेद बाल के आते ही आदमी हिलाव लगाने लगता है कि घब तक वहा पाया, धांगे नया करना है और भविष्य के तिए वहा मंचय किया। हिलाव लगाना मच्छा नहीं होता। इसमें जिन्दगी में बणिक-बृति आती है और जिस दिशा से कुछ मिलता है, आदमी उसी दिशा में सिद्धा करता है। बड़े-बड़े 'हीरो' घराशायी होते हैं। बड़ी-बड़ी देव-प्रतिमाएं स्थित होती हैं। राजनीति, माहित्य, जन-मेवा के सेत्र की वितनी महिला-मंटित मूर्तियाँ इन भौतिकों ने टूटते देखी हैं, वितनी मात्स्याएं भग होते देखी हैं। बड़ी सतरनाक उम्र है यह; बड़े समझीते होते हैं सफेद बालों के मौसम में। यह मुझह का झंडा मिर पर लहराने लगा है। यह घोषणा कर रहा है, "घब तक के शत्रुओ! मैंने हृषियार हाल दिये हैं। आपसो, संघि कर सो।" तो वहा मुखि होगी—उनमें जिनसे मध्ये होड़ा रहा? समझीता होगा, उनमें जिसे गुतत मानता रहा?

पर आज एकदम ये निर्णयिक प्रश्न मेरे सामने क्यों खड़े हो गये ? बाल की जड़ वहुत गहरी नहीं होती । हृदय से तो उगता नहीं है यह ! यह सतही है, यौवन सिंह काले बालों का नाम नहीं है । यौवन नवीन भाव, नवीन विचार ग्रहण करने की तत्परता का नाम है; यौवन साहस, उत्साह, निर्भयता और खतरे-भरी जिदगी का नाम है; यौवन लोक से बच निकलने की इच्छा का नाम है । और सबसे ऊपर, वेहिचक वेवकूफी करने का नाम यौवन है । मैं बराबर वेवकूफी करता जाता हूँ । यह सफेद झंडा प्रवंचना है । हिंसाव करने की कोई जल्दी नहीं है । सफेद बाल से क्या होता है ?

यह सब मैं किसी दूसरे से नहीं कह रहा हूँ, अपने आपको ही समझा रहा हूँ । छिमुखी संघर्ष है यह—दूसरों को अमित करना और मन को समझाना । दूसरों से भय नहीं । सफेद बालों से किसी और का क्या विगड़ेगा ? पर मन तो अपना है । इसे तो समझाना ही पड़ेगा कि भाई तू परेशान भत हो । अभी ऐसा क्या हो गया है ! यह तो पहिला ही है । और फिर अगर तू नहीं ढीला होता, तो क्या विगड़ने वाला है !

पहिले सफेद बाल का दिखना एक पर्व है । दशरथ को फान के पास सफेद बाल दिखे, तो उन्होंने राम को राजगद्वी देने का संकल्प किया । चार पुत्र थे । उन्हें देने का सुभीता था । मैं किसे सौंपूँ ? कोई कंधा मेरे सामने नहीं है, जिस पर यह गौरवमय भार रख दूँ । किस पुत्र को सौंपूँ ? मेरे एक मित्र के तीन पुत्र हैं । सबेरे यह मेरा दशरथ अपने कुमारों को चुल्लू-चुल्लू पानी मिला दूध बाटता है । इनके कंधे ही नहीं हैं—भार कहाँ रखेंगे ? बढ़े आदमियों के दो तरह के पुत्र होते हैं—वे जो वास्तव में हैं, पर कहलाते नहीं हैं और वे जो कहलाते हैं, पर ही नहीं । जो कहलाते हैं, वे धन-सम्पत्ति के मालिक बनते हैं और जो वास्तव में हैं, वे कहीं पंसा खींचते हैं या बत्तन माँजते हैं । होने से कहलाना ज्यादा साभदायक है ।

अपना कोई पुत्र नहीं । होता तो मुदिकल में पढ़ जाते । गया देते ? राज-पाट के दिन गये, पन-दीलत के दिन हैं । पर पास ऐसा मुछ नहीं है, जो उठाफर दे दिया जाय । न उत्तराधिकारी है, न उसका प्राप्त्य । यह पर्व

वया विना दिए चला जाएगा ?

पर हम क्या दें ? महायुद्ध की छाया में बड़े हम लोग; हम गीर्वी
और अभाव में पले लोग; केवल जिजीविषा स्थाकर जिये हम सोग—
हमारी पीढ़ी के बाल तो जन्म से ही सफेद हैं। हमारे पास क्या है ? ही,
भविष्य है, लेकिन वह भी हमारा नहीं, आने वालों का है। तो इतना रक
नहीं है—विराट भविष्य तो है। और अब उत्तराधिकारी की समस्या भी
हल हो गई। पुत्र तो पीढ़ियों के होते हैं। केवल जन्मदाता किसी का गिरा
नहीं होता। विराट भविष्य को एक पुत्र से भी कैसे सकता है ? इससे
व्या कि कौन किसका पुत्र होगा, कौन किसका पिता कहसायगा ! भरी
पीढ़ी के समस्त पुत्रों ! मैं तुम्हें वह भविष्य ही देता हूँ। यद्यपि वह अभी
मूर्त नहीं हृष्ण है, पर हम जुटे हैं, उसे मूर्त करने। हम नीच में धंस रहे हैं
कि तुम्हारे लिए एक भव्य भविष्य रखा जा सके। वह तुम्हारे लिए एक
वर्तमान बनकर ही प्रायेगा—हमारा तो कोई बन्मान भी नहीं था। मैं
तुम्हें भविष्य देता हूँ और इस देने का धर्य यह है कि हम अपने प्राप्त को
दे रहे हैं, व्योकि उसके निर्माण में अपने-प्राप्तको मिटा रहे हैं। तो, मफेद
बाल दिखने के इस पवं पर यह तुम्हारा प्राप्य मंभासो। होने दो हमारे
बाल सफेद। हम काम में तो सगे हैं—जानते हैं कि काम बन्द करने और
मरने का धरण एक ही होता है।

हमें नुपसे कुछ नहीं चाहिए। यथाति जैसे स्वार्थी हम नहीं हैं जो पुत्र
की जवानी लेकर युवा हो गया था। बाल के माय, उसने मुँह भी काना
कर लिया।

हमें नुपर्युक्त नहीं चाहिए। हम नीच में धंस रहे हैं, तो हम तुम्हें
कलश देते हैं।

गली तो चारों बंद हुइँ !

स्कूल में था तब यह पद सुना था—‘गली तो चारों बन्द हुइँ अब हरि
मिलूं कैसे जाय ।’ भीरा के बारे में उस समय कुछ नहीं जानता था ।
भरा सारा व्यान प्रथम पंक्ति पर अटककर रह गया । सोचा—कहने
वाले की जहाँ-तहाँ उधारी रही होगी, तभी तो साहूकारों से बचने के
लिए उसने उन गलियों से निकलना छोड़ दिया था ।

हर लड़का ऐसा नहीं सोचेगा । मेरे ऐसे सोचने का कारण था ।
पिताजी की आर्थिक हालत उन दिनों बहुत खराब थी और वे हम लोगों
के पालन के लिए कहाँ तहाँ कर्ज करते थे । सहपाठियों की देखादेखी यदि
अच्छे कपड़े या जूते की माँग करता, तो वे सीझकर कहते, “कहाँ से
लाऊँ ! उधारी के कारण तो रास्ते बन्द हो गये हैं ।”

गीत की पंक्ति को सुनकर मेरे मन ने तरह-तरह के अनुमान लगाये
थे । गीत लिखने वाले को जीने के लिए आटा-दाल-नोन-तेल-लकड़ी की
उधारी करनी पड़ती होगी और साहूकार कर्ज के मामले में अपने भगवान
को भी नहीं छोड़ेगा । साहूकार परलोक जाता होगा, तो सबसे पहले यह
पता लगाता होगा कि यहाँ व्याज की दर क्या है और दीवानी कचहरी
है या नहीं । उसका कोई फज़्ज़दार नक़्क़ में हो और वह स्वर्ग में, (वैसे इसे
असम्भव ही समझिये) तो वह वसूली के लिए अपना ‘ट्रांसफर’ नक़्क़ का
फरा लेगा ।

ऐसे ही विकट साहूकारों के डर से गीतकार ने गलियाँ छोड़ी होंगी
और गाया होगा—‘गली तो चारों बंद हुइँ हरि से मिलूं कैसे जाय ।’
पर नीति है कि राजा के पीछे और साहूकार के आगे रहना चाहिए ।

राजा सामने आता है और साहूकार समझार।

परंगर राजा किसी शात पर झुट हो गया तो भागे बाले घासी की गद्दन उतरवा लेगा, पीछे बासा बच जायेगा।

भासी की गद्दन उतरवाना राजाओं के लिए खेत होता था। किसी देश के प्रवासी राजा को अमेरिका में फौसी देने की एक नवी वस दिलाई गई। राजा ने सहज ही कहा, "मेरे इन नौकरों में से किसी को फौसी देकर दिलाइये।"

साहूकार के सामने रहने से उस पर ईमानदारी की चाह बढ़ती है और वह सौधता है कि यह दे ही देगा।

कहावतें अपनी जगह पर ठीक हैं। मूलतने बासा कहावतें नहीं बनाता, उसे फूरसत नहीं होती। और जो कहावत बनाता है, वह मूलतता नहीं। यह साहूकारों की बनाई नीति मानूम होती है जिससे उनकी आगामी पीड़ियों को कर्जदार की गद्दन पफड़ने में सुभीता हो। बड़ा से बड़ा सूरजा जो यमासान युद्ध में दुश्मन के शीघ्र बेस्टके छुस जाता है, साहूकार के सामने पत्ते-सा कौपने सकता है। सिक्कन्दर, सीजर, नेपोलियन, प्रताप, दिवाजी की बहादुरी के किस्से ही हमारे सामने आये हैं। यह शोष बाकी है कि साहूकारों के सामने इनका क्या हास होता था। ये रसा टेनसिय हिमासय की चोटी पर तो चढ़ गया, पर नेपाल के अपने उस गाँव में नोन-टेस-सफड़ी उधार देने बाले उस साहूकार की गती में निकलना उसे दस एवरेस्ट चढ़ने के बराबर सकता होगा। हिमासय को चोटी पर लड़े, दुनिया के उबसे ढूँचे उस घासी ने भी घासमान के कान में यही बात कही होगी कि उसे साहूकार के तीन रसये तेरह घाने देना है।

लेकिन पृथ्वी रिस्कुल बीर-विहीन नहीं हो गई है। मैंने ऐसे भी नरपंगव देखे हैं जो साहूकार से इस ठाठ से बात करते हैं मानो वही उनका कर्जदार हो। मेरे एक परिचित ही थे। वे कस चुकाने के बादे पर घास भास रखये भी उधार से सकते थे। जब कोई ठकाड़ा करने आए तो वे उसे ढाटते—घास गये सबेरे-सबेरे ! तुम्हारे रसये क्षा जाऊँगा क्या ? कौन दस, पांच हजार दे दिये हैं ! सौ पचास तो किसी भी दिन बारैहाथ से फौक दूँगा। भगव उनके बाएँ हाथ ने कम्बी भी इस तरह रसयों का

अप्रमान करना स्वीकार नहीं किया। कुछ दिनों में साहूकार ने आना बन्द कर दिया। मैं खुश था कि दुनिया में पहली बार साहूकार की पराजय हुई। पर एक दिन वह बड़े सबेरे अचानक उनका सामान कुर्कं कराने आ गया।

सहनशील साहूकार ज्यादा खतरनाक होता है। एक अर्से तक वह आपको ढाल देता रहेगा और जब आप समझ रहे होंगे कि वह भूल गया है, वह गर्दन अचानक पकड़ लेगा। इसलिए कुछ दिन उसके सामने से निकलना चाहिए, साहस से दुग्रा-सलाम भी करना चाहिए। फिर उसे धीरे-धीरे टालना चाहिए, ब्लैक-लुक देना चाहिए। 'ब्लैक-लुक' देना भी एक कला है। अगर साहूकार की सड़क से निकलना है तो अच्छे कदावर दोस्तों के बीच चलिये, ताकि साहूकार की दृष्टि के बार से बचने के लिए उनके कन्धे ढाल बन सकें। अगर मित्र छः फुटा नहीं हो तो उससे बातचीत में इतने मशगूल हो जाइये कि आसपास देखना ही न पड़े, मानो आप किसी गम्भीर अन्तर्राष्ट्रीय समस्या पर विचार कर रहे हों और घेड़ने से विश्व-शान्ति को खतरा हो जायेगा। अगर वहाँ से अकेले ही निकलना पड़े तो सड़क की दूसरी ओर के साइन बोर्डों को पढ़ते हुए निकल जाइये, या साहूकार की ओर बाली आँख को इस परेशानी से बचते हुए निकल जाइये कि कम्बुज कीड़ा घुस गया है। कई तरीके हैं—क्षितिज के पार फिलमिल के देश में, ठीक सामने किसी 'भूरत' को देखते बड़े चलिये। अगर रहस्यवादी कवि हुए, तो उस पार तम के लोक में भाँकते हुए मुख को देखने में सुभीता रहेगा। शून्य पर ध्यान न टिके तो चौराहे पर जाते हुए किसी परम मित्र की कल्पना करके घबराकर सीधे देखते हुए भगटिये। सबसे अचूक नुस्खा है फ़िलासफ़र बन जाना—कर्जदार और फ़िलासफ़र में विशेष अन्तर भी नहीं है। दोनों दुनिया से मुँह छुपाते हैं। जमीन या आसमान दोनों में से एक को ताकते हुए देखटके निकल जाइये। इनमें से कोई भी तरीका काफ़ी होगा। लेकिन जैसे मौत के सामने धनवंतरि का नुस्खा भी नाकामयाव रहता है, वैसे ही साहूकार जब ऊपर टूटेगा, तो इनमें से कोई तरकीब काम न देगी।

कुछ दिन इस तरह 'ब्लैक-लुक' देने के बाद वह रास्ता छोड़ा जा

पक्ता है। भद्रात्म से दी जाने वाली मियाद को तरह यह समय निकालना होता है। पर इसमें एक जबदंस्त सतरा है—भगर कभी वही अन्यथा मामना-सामना हो गया तो साहूकार गद्दन पकड़कर कहेगा, क्यों साहूव, वैसे खा जाने के द्वारा है वया? भव तो वह रास्ता ही छोड़ दिया।

सबसे मुश्किल टालना मकान मालिक का होता है। दूसरों को टालने के लिए आप घर छोड़ सकते हैं, घर परन मिलने का इतनाम कर सकते हैं। पर दिन-भर कही भी रहे, रात को तो घर लौटना ही पड़ता है। सबेरे नीद सुलने के पहिने घगर मकान मालिक आ गया तो सुन्दर सपने तक न पहुँच हो जाते हैं। कहते हैं भोर का सपना सच्चा होता है। घगर सुबह आदमी भएना तिमंजिला मकान बनवा रहा हो, पूरा बन चुका हो, सिफ़र रंग-बिरंगी पुताई रह गयी हो, इसी समय घगर मकान मालिक आकर जगा दे, तो तिमंजिला भवन एक दण में घ्वस्त हो जाय। चाहे नीद हराम हो, पर आदमी को अपने सपने बरबाद नहीं होने देना चाहिए।

कज़ुँ में पहिले झिल्क होती है, तगाड़ों से शर्म आती है, रास्ता छोड़ने में गतानि होती है। ये अपरिपक्व मनुष्यता के सदृश हैं। परिपक्वता तब आती है जब आदमी इनमें गच्छ का अनुभव करता है। हमारा स्वाल बनता जा रहा है कि उधारी कोई देवी व्यापार है। उधार का माल नकद के माल से अधिक पवित्र भी महत् होता है। मुदामा जब कृष्ण से मिलने गये, तो जो पाव-भर चावल मैट के लिए से गये थे, उन्हें पाठ्याली पढ़ोसिन से उधार लाई थी। उन उधारी के आयलों को जब कृष्ण ने सापा, तो तुरन्त दो लोकों का राज दे दिया। देवताओं में तो उधारी की प्रथा इस हृद तक थी कि नारद विष्णु ने उनका चेहरा ही उधार माँग कर से गये थे। पर उस मुकनमोहिनी ने रहस्य जान लिया और कर्णदार के बदले साहूकार के गले में जयमाला ढाल दी। सुन्दरी कभी व्यावहारिक भी हो जाती है।

शायद उधारी कोई परम पवित्र सोकोत्तर प्रवृत्ति है जो महान प्रात्माओं में निवास करती है। 'गालिव' परिणाम जानते हुए भी इन की मय योग्यते ये—

कर्जं की पीते थे मय और कहते थे कि हाँ,
रंग लायेगी हमारी फाकामस्ती एक दिन ।

गोल्डस्मिथ पर इतना किराया चढ़ गया था कि एक दिन मकान भालकिन ने उन्हें मकान में ही कंद कर दिया । गोल्डस्मिथ ने किस कदर अपने मिश्र ढाँ० जान्सन को खबर दी और जान्सन ने आकर उनके 'विकार आफ वेकफील्ड' की पांडुलिपि ली और उसे साठ पौँड में बेच-कर किराया चुकाया और कवि को मुक्त कराया ।

उस दिन एक महान लेखक के बारे में जब यह पढ़ा कि वे बनियों से बचने के लिए तीन-तीन मील का चक्कर लगाया करते थे, तो ऐसा लगा कि मेरी और उनकी साधना में ढाई मील का अन्तर है—मुझे अभी सिर्फ धाघा मील का चक्कर लगाना पड़ता है ।

अब तो कर्जं की एक फ़िलासफ़ी बना ली है—जिसके पास ज़रूरत से ज्यादा है वह देता है और जिसके पास ज़रूरत से कम है वह उधार लेता है । जब लेने वाले के पास भी ज़रूरत से ज्यादा हो जायगा तब वह पटा देगा ।

अगर एक के पास ज़रूरत से ज्यादा और दूसरे के पास ज़रूरत से कम न होता, तो यह उधारी की प्रथा ही न बनती । आपकी केतली में चाय है । मुझे चाय पीना है । मैं एक कप पी लूँगा, दो कप पी लूँगा, आमह पर तीसरा भी पी सकता हूँ । मगर चौथा कप मैं हरगिज नहीं लूँगा । उस समय मैं सर्वोच्च नैतिक स्तर पर रहूँगा । न आपकी चाय माँगूँगा, न चुराऊँगा, और न छीनूँगा । पर जब तक एक की केतली भरी है और दूसरे को चाय नहीं मिली है, तब तक उस केतली की खंड नहीं है ।

विनोदा ने ग्रामवासियों को एक बार बड़ी नेक सलाह दी थी—“कर्जं चुकाने की चिन्ता मत करो । जो कमाओ उसमें से पहिले अच्छा सामो, अच्छा पहिनो । बच्चों को अच्छा सिलाओ-पिलाओ । फिर अगर दो-चार पैसे भी बचें तो साहूफार को दे दो । उससे कह दो, कि हम पटायेंगे ज़रूर, पर जो बचेगा वही देंगे । तुम्हारे पास ज़रूरत से ज्यादा या, तुमने हमें दे दिया । हमारे पास ज़रूरत से ज्यादा जो होगा, हम तुम्हें

दे देंगे ।"

एक दिन हम आपने साहूकार को जब यह दर्शन समझाने से, तो वह बोला, "जनाव, भगव यह जानता कि आपके विचार इतने मुलझे हुए हैं, तो एक कौटी उपार न देता ।"

मुझे मुलझे विचारों ने शारद्वार मारा है ।

गेहूं का सुख

मुझे याद नहीं इस घर में इतना गेहूं इकट्ठा कभी आया हो—विवाह और गमी के मीकों को छोड़कर। पर विवाह पिछले दस सालों ने कोई नहीं हुआ। गमी एकाघ हुई, पर श्राद्ध और व्रात्युण-भोजन में बोने नहीं दिये। हमारे यहाँ रोज ही व्रात्युण-भोजन होता है क्योंकि हम रोज ही करते हैं—और हमारे पुरसे व्रात्युण कहलाते थे। मुझे याद है कि प्राथमिक शाला में कापी पर मैं लिखता था—

नाम—हरिशंकर

जाति—व्रात्युण

आगे चलकर मुझे यह मानना संभव नहीं हुआ कि जरीर ने स्वतंत्र कोई आत्मा होती है, जो किसी लोक में वैठी-वैठी देखा करती है कि मेरे परिवार वालों ने किस-किस व्रात्युण को भोजन कराया; डालडा का उपयोग किया कि शुद्ध धी का और मोतीचूर के लड्डू खिलाये कि नहीं! मेरी अल्प बुद्धि में यही आया कि अगर आत्मा कहीं स्वतंत्र रूप ने रहती भी हो, तो वह, जो शुद्ध-बुद्ध रूप में स्थित है, यह देखकर वड़ी कुट्टनी होगी कि कितने नालायक हैं मेरे बेटे, जो इतने निटल्लों को अकारण ही माल सिला रहे हैं। यों सयानों ने मुझे डर दिखाया कि पुरखों की सद्गति नहीं होगी, पर मैंने सोचा कि अपात्रों-कुपात्रों को खिलाने और दान देने के पाप से पुरखों की सद्गति तो नहीं, दुर्गति जरूर हो जायगी।

तो इतना गेहूं कई सालों से नहीं आया। आज छोटा भाई जब एक साथ तीन बोरे ले आया, तो मेरी हालत उस मुफ़्सिल प्रेमी जैसी ही गयी, जिसके घर एकाएक उसकी ऐश्वर्यशालिनी प्रेमिका आ जाय, जिस

पर उसने यह रंग बौध रखा है कि मैं भी रईसजादा हूँ। वही भौप सगी, इन बोरों के सामने। इनका सत्तार कैसे करें? किसी आम्यज्ञना करें? गेहूँ की मात्रा की उस महत्ता के सामने हम सब अपने को बहुत हीन समझने लगे। मेरे मन में प्राप्तना उठी—पथारो देव! हम नहीं जानते, कैसे तुम्हारा स्वागत करें! हमने कल्पना नहीं की थी कि आप कभी इस मात्रा में हमारे द्वारा आयेंगे। गरीब की कुटी में तीन बोरे माकर आपने मुहन्ते में हमारी इच्छत वाकी बढ़ाई है और हम आपको भीतर लाने में इसलिए देर कर रहे हैं कि सोग देख लें कि हमारे पर आप आये हैं। हम कैसे इस सौभाग्य को बटोरें? आपको कहाँ आगाम दें? 'वभी हम आपको देखते हैं और कभी पर को देखते हैं।' हमारे पास एक मन से अधिक की बोठी है ही नहीं। किसे पता था कि कभी इस ठाठ से भी आप आयेंगे।

हम सब अभिभूत थे। भाईने ठेले पर से बोरे उत्तरवाकर धरामदे में रखवाये और एक हाय कमर पर रख दूसरे से पसीना पोंछते हुए पुछ इस तरह मेरी ओर देखा मानो कह रहा हो 'तुमने मुझे कभी किसी योग्य नहीं समझा। आज देखो, मेरी सामर्थ्य। तुम कभी इतना गहूँ लाये?'—ठीक कहता है। मुझसे कभी यह नहीं बना। जो-जो मुझपे नहीं बना, वह सब भाई कर दिला रहा है।

मैं अपने मन को इस नई परिस्थिति के अनुकूल नहीं कर पा रहा हूँ। प्रसन्न हूँ, पर एक भयानक शिथितता भी मेरे मन में है। वपों से जब-तब योही-योही मात्रा में गेहूँ के प्रबन्ध के प्रयत्न और चिन्ता का आम्यासी मन आगामी कुछ महीनों की निश्चितता की कल्पना से सहम गया है। अपने प्रयत्नों को अब कौन राह मिलेगी? मैं सुखी भी हूँ और दुखी भी। निःसंतान के घट, उमर चढ़, पुत्र हो पर प्रसव में स्त्री मर जाय, तो उसे कैसा सगेगा? अपनी सत्ता का एक भाग जो हमेशा गेहूँ में उलझा रहता था, एकदम बेकार हो गया और मुझे उस समय लगा कि जिस मात्रा में जी रहा था, उससे कुछ कम मात्रा में जीना पढ़ेगा। मर के बितने ही कोठे हैं जिनमे जरूरतें भरी हैं—एक गेहूँ का कोठा है, एक वस्त्रो का, एक मकान का। आज गेहूँ का कोठा साली हो गया। मन कुछ रीता हो गया।

मेरा एक दोस्त मुझसे कहा करता है—‘पुराने जमाने में किसी राजा के पास श्रगर एक महीने की रसद भी होती थी, तो वह दूसरे राज्य पर हमला कर देता था। तुम्हारे पास श्रगर एक हप्ते की रसद हो, तो तुम सारी दुनिया पर हमला बोल देते हो।’ उसका ख्याल है कि मुझे बोरों की चाह नहीं है। लेकिन ग़लत है। चाह न होती, तो इन तीन बोरों को द्वार पर देख कर कबीर की तरह माया न ठोंक लेता—

‘बूढ़ा वंस कबीर का, उपजे पूत कमाल !’

संचय के बिना भी जो वैखटके जी सके, ऐसा विरला होता है। सामान्य आदमी के लिए यह तभी संभव है, जब उसके भाग की प्राप्ति निश्चित हो। ऐसी व्यवस्था में जहाँ अपना प्राप्ति विलकुल अनिश्चित हो, कोई संतों की तरह कैसे जिये कि—

चाह गई चिता घटी मनुष्टा वेपरवाह ।

जिनको कछू न चाहिए ते शाहनपति शाह ॥

जिसे घर भरे बिना सुरक्षितता की अनुभूति होती है और जो निर्भय, निर्दृग्ंद जीता है, उसका मन कितने कठोर अनुशासन में से गुजरता होगा। कबीर था ऐसा, जो ‘आठों पहर मस्तानमाता’ रहता था क्योंकि ‘काल को निचोरिकै अमृत’ पीने की दम थी उसमें। उसके लिए गेहूँ का बोरा छोटी चौज थी।

हमारं लिए नहीं। हमारे उस आदि पुरुष आदम ने गेहूँ के लिए स्वर्ग को लात मार दी थी। उसने गेहूँ खा लिया था तो उसे जन्मत से ही निकाल दिया गया। गेहूँ खाना इतना बड़ा अपराध कैसे हो गया? धर्म की नजर अकसर ऐसी विसंगत हो जाती है। जो पानी छानकर पीते हैं, वे आदमी का खून बिना ढाना पी जाते हैं। तब, जब गेहूँ के निर्यात पर प्रतिवंध था, एक जून का आटा श्रौंगोद्ये में वाँधकर चलने वाले किसान को सजा हो जाती थी और उधर हजारों बोरे गेहूँ रातों-रात सीमा पार हो जाता था, काले वाजार में विकने के लिए। न्याय को अंधा कहा गया है—मैं समझता हूँ, न्याय अंधा नहीं, काना है, एक ही तरफ देख पाता है। आदम इतनी न्याय-धर्म का शिकार हुआ। स्वर्ग के निवासियों को गेहूँ खाने वाले से इतनी नफरत क्यों हुई? मुझे लगता है—स्वर्ग के वासियों

में सोचा होगा कि भादमी जो गेहूं का चस्का लग गया है; इब यह गेहूं पैदा करेगा, खेत जीवेगा, भ्रात्र बोयेगा, फ्रमन काटेगा—यानी परिवर्तन करेगा। वे स्वर्ण तो बिना मुद्र देना दिया लाला सारे दे। जिन्हें पसीना सिक्के भरमी और भय से आता है, वे अपने पसीने में बहुत डरते हैं। स्वर्ण के आतसी, निठले, परोपक्रीयी निवासी, उर्मी मनुष्य से हरे होंगे और पढ़ाहट में उसे बाहर निकाल दिया होगा।

गेहूं अपने बदनाम हुआ। उसका कोई भवराम नहीं। यही तो उसने हमारी मनस्थिति ही बदल दाती। मैंने बोरे में हाय ढासकर मुट्ठी भर निकासा और देस कर नहा—‘भच्छा है।’ कुछ ऐसी घद से राय जाहिर की, जो या जिदगी-भर गेहूं की दलाली करता रहा हूं। मेरे एक ब्रौडमिश्र, जो गेहूं से लेकर राजनीति तक की दलाली करते हैं, मुझे निहायत देवहृक भादमी समझते हैं, क्योंकि मैं दलाली नहीं करता और जो करता हूं, वह बहुत बैसवतत्व है। वे दलाली को जीवन का चरम सद्य मानते हैं। पर मैं इस मौके पर बिलकुल दलाल का अभिनय कर रठा। बहुत से गेहूं में हाय ढालने को मिले, इस लोम में कोई भी दलाल हो सकता है।

इस गेहूं में सबसे भच्छा गुण यह है कि यह इसी भ्रूमि का है। आगे तो बिदेशी गेहूं लाना पड़ेगा। गेहूं के साथ न जाने किन-किन बीमारियों के शीटापू चले आते हैं। बाहर से पाने वाले गेहूं में एक लास जीवन-यद्यति के शीटापू बड़ी संख्या में आ रहे हैं और इन शीटापूओं को पारने की तारति सिर्फ प्रतिक्रिया संस्कृति में होती है—उम संस्कृति में जो आचरण में प्रतिक्रिया हो गई है। (किताब में जिसी ही में नहीं।) जिनकी रोप-विश्वास शक्ति कम है, वे बीमार भी पड़ रहे हैं। यों सोग विश्वास इताना चाहते हैं कि इम गेहूं में कोई शीटापू नहीं; यह गुद है। पर हमें विश्वास नहीं, हम देख चुके हैं कि मैचेस्टर से पाने वाले बदले में बड़ी ‘पूनियन जैक’ दिना या, जो मौका पाते ही फहराने लगा। बड़ा डर लपता है, बाहर के गेहूं से।

यह अपना गेहूं बड़ा मुखदायी है। इसने जादू पर दिया है। इत भाई-बहन में किसी बात पर लटकट हो गई थी। भात दोनों ने बोरे का एक-एक चिरा पहड़कर जब पसौटा, तो मन मिल गये। बोरा मेंतु बत गया।

वच्चे अधिक आशाकारी और शिष्ट हो गये हैं। हम अधिक उदार भी हो गये हैं। दूटी संदूक कहारिन कई दिनों से माँग रही है और हम उसे टाल रहे हैं। आज उसे विना माँगी ही दे दी।

गेहूं के तीन बोरों ने ऐसा परिवर्तन कर दिया। मनुष्य-जीवन पर वितने ही मनीषियों ने, दार्शनिकों ने सोचा है और लिखा है, पर गेहूं की बात अक्सर भूल गये हैं। कुछ लोग गेहूं की बात को 'भौतिक' कहकर मुँह चिढ़ाते हैं। अगर भौतिक बुरा है, तो सबसे बड़ी भौतिक क्रिया तो जन्म धारण करना ही है। तो भाई, भौतिकता से पिंड छुड़ाने के लिए मरते क्यों नहीं? उपनिषद् का वह ब्रह्मचारी मूर्ख नहीं या, जिसने छूटते ही कहा था कि अन्न ब्रह्म है। लेकिन अब कुछ लोग गेहूं से गुलाब की ओर इस तरह ले जाते हैं, जैसे गेहूं जरूरत से ज्यादा हो गया, इसलिए गुलाब की तेती करना चाहिए। जहाँ उन्डे हुए गेहूं के बेत हों, वहाँ गुलाब की फ़सल किस काम आयगी? जिदगी के बारे में जो सोचेगा वह भला गेहूं को छोड़ देगा? सबसे पहले सोचेगा।

निदा-रस

क—कई महीने बाद आये थे। गुबह चाय पीकर घरवार देन रहा था कि वे तूफान की तरह कमरे में पुते; 'साइक्लोन' की तरह पुक्के धफनी मुजामों में जकड़ा। मुझे पूतराष्ट्र की मुजामों में जकड़े भीम के पुतों की याद आ गई। वह पूतराष्ट्र की ही जकड़ थी। अग्ने पूतराष्ट्र ने टटो-सते हुए पूछा, "कहाँ है भीम? आ बेटा, तुझे क्सेजे से सगा सू?" पौर जब भीम का पुतला उनकी पकड़ में आ गया, तो उन्होंने प्राण-पाती हनेह से उसे जकड़कर खूर कर डाला।

ऐसे भौंके पर हम प्रक्षसर घपने पुतने को धैकवार में दे देते हैं; हम अतग सदे देखते रहते हैं। क—रो या मैं गले मिला? या मुझे उसने समेट कर खलेजे से सगा लिया? हरणिज नहीं। मैंने घपना पुतला ही दसे दिया। पुतला इसलिए उसकी मुजामों में सौंप दिया कि मुझे मातृम या कि मैं पूतराष्ट्र से मिल रहा हूँ। पिछली रात को एक मित्र मैं बताया कि क—घपनी समुराज आया है और ग—के चाय बैटकर शाम को दो-तीन घंटे तुम्हारी निन्दा करता रहा। ऐसे गुचना के बाद अब आज सवेरे वह मेरे गले सगा तो मैंने शरीर में घपने भन की खूपचाप लिलका दिया और निल्नेह, कंटीसी देह उसकी बोहों में ढोड़ दी। भावना के अपर काट होते तो उने मालूम होता कि वह नागकली ही इसीने गे चिपटाये हैं। उल का पूतराष्ट्र जब प्रातिगत करे, तो पूँजी ही आगे बढ़ाना चाहिए।

पर वह मेरा दोस्त घमिनय में पूरा है। उसके धौम भर नहीं आए, आकी मिलन के हृषीभास के सब चिह्न प्रगट हो गए—वह गहरी आँखीं।

यता की जकड़, नयनों से छलकता वह असीम स्नेह और वह स्नेह-सिक्त वाणी ।

बोला, “अभी सुवह गाढ़ी से उतरा और एकदम तुमसे मिलने चला आया, जैसे आत्मा का एक खंड दूसरे खंड से मिलने को आतुर रहता है।” आते ही भूठ बोला कम्बख्त—कल का आया है, यह मुझे मेरा मिथ्र चता गया था । इस भूठ में कोई प्रयोजन शायद उसका न रहा हो । कुछ लोग वडे निर्दोष मिथ्यावादी होते हैं; वे आदतन, प्रकृति के वशीभूत भूठ बोलते हैं । उनके मुख से निष्प्रयास, निष्प्रयोजन भूठ ही निकलती है । मेरे एक रिश्तेदार ऐसे हैं । वे अगर वस्त्र जा रहे हैं और उनसे पूछें, तो वे कहेंगे, “कलकत्ता जा रहा है ।” ठीक वात उनके मुँह से निकल ही नहीं सकती । क—भी वड़ा निर्दोष, सहज-स्वाभाविक मिथ्यावादी है ।

वह बैठा । कब आये ? कैसे हो ?—वर्गरह के बाद उसने ग—की निन्दा आरम्भ कर दी । मनुष्य के लिए जो भी कर्म जघन्य हैं, वे सब ग—पर आरोपित करके उसने ऐसे गाढ़े काले तारकोल से उसकी तस्वीर खींची कि मैं यह सोचकर काँप उठा कि ऐसी ही काली तस्वीर मेरी ग—के सामने इसने कल शाम को खींची होगी ।

सुवह की बातचीत के इस ‘एजेंडा’ में ग—प्रमुख विषय था । फिर तो जिस परिचित की बात निकल आती, उसी को चार-छं बाक्यों से धरा-शायी करके वह बढ़ देता ।

अद्भुत है मेरा यह मिथ्र । उसके पास दोपों का ‘केटलॉग’ है । मैंने सोचा कि जब यह हर परिचित की निन्दा कर रहा है, तो क्यों न मैं लगे हाय अपने विरोधियों की ‘गत’ इसके हाथों करा लूँ । मैं अपने विरोधियों का नाम लेता गया और वह उन्हें निन्दा की तलवार से काटता चला । जैसे लकड़ी चीरने की आरा मशीन के नीचे मजदूर लकड़ी का लट्ठा खिसकाता जाता है और वह चिरता जाता है, वैसे ही मैंने विरोधियों के नाम एक-एक कर खिसकाए और वह उन्हें काटता गया—फलाँ चापलूस है…“अमुक नम्बर एक व्यभिचारी है…“अमुक अपनी ओरत को अफसरों के यहाँ भेजकर तरक्की पाता है’ कौसा आनन्द था ! दुश्मनों को रण-क्षेत्र में एक के बाद एक कटकर गिरते हुए देखकर योद्धा को ऐसा ही सुख होता

होगा।

मेरे मन में गत रात्रि के उस निष्क मित्र के प्रति मैत नहीं रहा। दोनों एक हो गये। भेद तो रात्रि के अंघवार में ही मिटता है; दिन के उजाले में भेद स्वप्न हो जाते हैं। निन्दा का ऐसा ही भेट-नाशक धौधेरा होता है। तीन-चार घंटे बाद, जब वह विदा हुआ, तो हम जोगों के मन में ऐसी याति और तुष्टि थी जैसे चर्च से निकलते हुए पार्मिन ईसाई के मन में होती है।

निन्दा की ऐसी ही महिमा है। दो-चार निन्दकों को एक जगह बैठा कर निन्दा में निमग्न देखिए, और तुलना कीजिये दो-चार ईश्वर-भक्तों से, जो रामपून लगा रहे हैं। निन्दकों की-सी एकाग्रता, परस्पर आत्मीयता, निमग्नता भक्तों में दुर्लभ है। इसीलिए सन्तों ने निन्दकों को 'धौगन कुटी छवाय' पास रखने की सलाह दी है।

कुछ "मिशनरी" निन्दक मैंने देखे हैं। उनका किसी से बैर नहीं, द्वेष नहीं। वे किसी का बुरा नहीं सोचते। पर खोदीसों घटे वे निदा-कर्म में बहुत पवित्र भाव से लगे रहते हैं। उनकी नितात नितिप्तता, निष्पत्ता इसी से भावना होती है कि वे प्रसंग थाने पर धरने वापर की पगड़ी भी उसी धानन्द से उछालते हैं, जिस धानन्द से अन्य सोग दुरमन की। निन्दा इनके लिए 'टॉनिक' होती है। हमारी एक पढ़ीसिन बृद्धा बीमार पढ़ी थी। हमसे पानी माँगकर पीती थी—उठा नहीं जाता था। सहसा किसी ने भाकर कहा कि पढ़ीसी डाक्टर साहब की सड़की किसी के साथ भाग गई। बस, चाची एकदम उठी और काँसते-काँसते दो-चार पढ़ीसियों की यह शुभ संवाद धरने व्यक्तिगत 'रमेट' के साथ सुना था। उस दिन से उनकी हालत मुधरने लगी।

ट्रेड यूनियन के इस जमाने में निन्दकों के संघ बन गये हैं। संघ के सदस्य जहाँ-तहाँ से सबरें साने हैं और दूसरे संघ के प्रधान को सौंपते हैं। यह कहचा मात हुआ। यब प्रधान उनका यक्का माल बनाएगा और सब सदस्यों को 'बहुजन हिताय' मुश्त बैटने के लिए दे देगा। उत्पादन की इस प्रक्रिया को यों समझा सकते हैं—एक सदस्य ने कहा कि और नरेन्द्र ने चूपचाप शादी कर सी। यह कहचा माल हुआ। यब

निन्दा कुछ लोगों की पूँजी होती है। बड़ा सम्बा-बोड़ा ध्यावार फैलाते हैं वे इस पूँजी से। कई लोगों की 'रिसेवेडेविलिटी' (प्रतिष्ठा) ही दूसरों की कलक-कथामों के पश्चायज पर भाग्यारित होती है। इहे रस-विभोर होकर वे जिस-तिस की सत्य-कल्पित कर्त्तक कथा मुनाते हैं पौर स्वयं को पूर्ण संत समझने-समझाने की तुष्टि का घनुभव करते हैं।

आप इनके पास बैठिए पौर मुन लीजिए, "बड़ा खराब जमाना था गया। तुमने मुना ? फला..."पौर धमुक "...!" अपने खरित्र पर धाँख ढालकर देखने की इन्हें कुरसत नहीं होती। खेत वी एक कहानी याद आ रही है। एक स्त्री किसी सहेली के पति की निन्दा अपने पति से कर रही है। वह बड़ा उच्चरक्षा दगावाज आदमी है। वेईमानी से पंसा कमाता है। कहती है कि मैं उस सहेली की जगह होती तो ऐसे पति को रुग्ण देती। सब उसका पति उसके सामने यह रहस्य खोलता है कि वह स्वयं वेईमानी से इतना पंसा कमाता है। मुनकर स्त्री स्तन्य रह जाती है। वहा उसने पति को रुग्ण दिया ? जो ही, वह दूसरे कमरे में खत्ती गयी।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हममे जो करने की शक्ता नहीं है, वह यदि कोई करता है तो हमारे विलिले घंहं को धक्का संगता है, हममे हीनता पौर गतानि पाती है। तब हम उसकी निन्दा करके उससे अपने को घन्छा समझकर तुष्ट होते हैं।

उस मित्र की मुताकात के करीब दस-बारह घंटे बाद यह सब मन मे पा रहा है। अब कुछ तटस्य हो गया है। सुबह जब उसके साथ बैठा था तब मैं स्वयं निन्दा के 'काला सागर' में झूलता-उत्तराता था, कनोल कर रहा था। बड़ा रस है न निन्दा मे। मूरदास ने इसनिए इसे निन्दा सबद रसांन कहा है।

मचंद के फटे जूते

प्रेमचंद का एक चित्र मेरे सामने है, पली के साथ फोटो लिचा रहे हैं। सिर पर किसी मोटे कपड़े की टोपी, कुरता और घोती पहने हैं। इनपटी चिपकी है, गालों की हड्डियाँ उभर आई हैं, पर धनी मूँछे चेहरे को भरा-भरा बतलाती हैं।

पांवों में केनवस के झूते हैं जिनके बन्द वेतरतीब वैधे हैं। लापरवाही से उपयोग करने पर बंद के सिरों पर की लोहे की पतरी निकल जाती है और छेदों में बंद ढालने में परेशानी होती है। तब बंद कैसे भी कस लिये जाते हैं।

दाहिने पांव का जूता ठीक है, मगर वाएं जूते में बड़ा छेद हो गया है, जिसमें से अँगुली बाहर निकल आई है। मेरी दृष्टि इस झूते पर झटक गयी है। सोचता हूँ—फोटो लिचाने की अलग-अलग पोशाकें नहीं होंगी—इसमें पोशाकें बदलने का गुण नहीं है। यह जैसा है, वैसा ही फोटो में स्थिच जाता है।

मैं चेहरे की तरफ देखता हूँ। क्या तुम्हें मालूम है, मेरे साहित्यिक पुरुते, कि तुम्हारा झूता फट गया है और अँगुली बाहर दिल रही है? क्या तुम्हें इसका जरा भी अहसास नहीं है? जरा लज्जा, संकोच या भौंप नहीं है? क्या तुम इतना भी नहीं जानते कि घोती को थोड़ा नीचे सोंच लेने से अँगुली ढक सकती है? मगर फिर भी तुम्हारे चेहरे पर बदले परवाही, बड़ा विश्वास है! फोटोग्राफर ने जब 'रेडी प्लीज' कहा होगा, तब परम्परा के अनुसार तुमने मुस्कान लाने की कोशिश की होगी,

के वहारे तुरं के ठन में कहीं पढ़ो मुस्कान को फोटो-भी खोजता कर
निशात रहे होंगे जिबीर में ही 'सिन्ह' करके खोजेगाफर ने 'चौपालू
कह दिया होमा। दिलिख है यह प्रधूरी मुस्कान। यह मुस्कान नहीं कृ-
इचमे उपहास है, संघ है!

यह कंसा भाइनी है, जो बुद ठो छुटे जूते दहिने फोटो निकाला है,
पर किसी परहंस नी रहा है!

फोटो ही जिचाना था, ठो ढीक चुडे दहिन नहीं, या न जिचानी ॥
फोटो न जिचाने से बना दिलहास था? यादद एवं कर छारह रहे हैं
और तुम, 'मच्छा, जन जई कहार देढ़ने होंगे। चरर यह किलनी बड़ी
'टूंबही' है कि भाइनी के लख फोटो जिचाने के बीच बूझा न हो। ते
कुम्हारी यह फोटो देखते-देखते, तुम्हारे बंदू ठो दर्तने बैठर नहूँन कर
के जैमं रो पहना चाहता है, स्तर तुम्हारी घाटतों का यह टीका दर्द भरा
ब्यंग मुझे एकदम रोक देता है।

तुम फोटो का महत्व नहीं मनमते। मनमते होते, तो किसी से फोटो
जिचाने के निए जूते मौज नहें। नोंद तो जनि के ढोट में वर-दिशायी
करते हैं। और जनि की जोटर में रातड़ जिचानते हैं। फोटो जिचाने के
तिए तो बोडी तड़ कीज नी बाती है, तुमने जूते ही मौजते नहीं बने।
तुम फोटो का महत्व नहीं चासते। नीज तो इत्र चुपड़कर फोटो जिचाते
हैं जिसमें फोटो में खुजबू था बाप। दर्दे दंपत्ते भाइनी की फोटो भी
खुजबू देनी है।

टोशी आठ घण्टे में मिल जाती है, और जूते उस जमाने में भी दाँव
रखये में बम में क्या मिलते होते। जूता हैमेशा टोशी से कीमठी रहा है।
अब तो जूते की कीमत और बड़गयी है और एक जूते पर पचोनों
टोपियाँ चौषावर होती हैं। तुम भी जूते टोशी के भानुपातिक झूल के
मारे हूए थे। यह जिद्दना युके इतनी तीक्ता से पहिने करने नहीं
चूभी, जितनी आज चुम रही है जब मैं तुम्हारा छ्टाबूगा देव यहूँ
तुम महान कषाकार, टरन्याम-सप्ताट, युग-प्रवर्त्तक, जाने क्षम-क्षम-
साते थे, मगर फोटो में भी तुम्हारा जूता कटा हुआ है।

मैरा जूता भी कोई भच्छा नहीं है। यो जार के बन्धु देखते,

श्रेणुली बाहर नहीं निकलती, पर श्रेणूठे के नीचे तला फट गया है। श्रेणूठ जमीन से घिसता है और पैनी गिट्ठी पर कभी रगड़ साकर लहूलुहान भी हो जाता है। पूरा तला गिर जायगा, पूरा पंजा छिल जायगा, मगर श्रेणुली बाहर नहीं दिखेगी। तुम्हारी श्रेणुली दिखती है, पर पाँव मुरक्षित है। मेरी श्रेणुली ढकी है, पर पंजा नीचे घिस रहा है। तुम पद्म का महत्व ही नहीं जानते, हम पद्म पर कुर्वनि हो रहे हैं !

तुम फटा जूता बढ़े ठाट से पहिने हो ! मैं ऐसे नहीं पहिन सकता। फोटो तो जिन्दगी-भर इस तरह नहीं खिचाऊँ, चाहे कोई जीवनी विना फोटो के ही छाप दे ।

तुम्हारी यह व्यंग्य-मुस्कान मेरे हीसले पस्त कर देती है। क्या मतलब है इसका ? कौनसी मुस्कान है यह ?

—क्या होरी का गोदान हो गया ?

—क्या पूस की रात में सूधर हल्कू का खेत चर गये ?

—क्या सुजान भगत का लड़का मर गया; क्योंकि डॉक्टर क्लब छोड़कर नहीं आ सकते ?

नहीं, मुझे लगता है माधो श्रीरत के कफ़न के चन्दे की शराब पी गया। वही मुस्कान मालूम होती है।

मैं तुम्हारा जूता फिर देखता हूँ। कैसे फट गया यह, मेरी जनता के लेखक ?

क्या बहुत चक्कर काटते रहे ?

क्या बनिये के तगादे से बचने के लिए मील दो मील का चक्कर लगाकर घर लौटते रहे ?

चक्कर लगाने से जूता फटता नहीं है, घिस जाता है। कुम्भनदास का जूता भी फ़तहपुर सीकरी जाने-आने में घिस गया था। उसे बड़ा पछतावा हुआ। उसने कहा —

आवत जात पन्हैया घिस गई, विसर गयो हरि नाम !

और ऐसे बुलाकर देने वालों के लिए कहा था —जिनके देखे दुख चपजत है, तिनकों करवो परे सलाम !

चलने से जूता घिसता है, फटता नहीं है। तुम्हारा जूता कैसे फट

गया ?

मुझे सगता है, तुम किसी सस्त खीज को ठोकर मारते रहे हो । कोई खीज जो परत पर परत मदियों से जमती गई है, जिस शायद तुमने ठोकर मार-मारकर भरना चूता फाढ़ लिया । कोई टीला जो रास्ते पर राढ़ा हो गया था, उस पर तुमने भरना चूता आजमाया ।

तुम वसे बचाकर, उसके बगल से भी तो निकल सकते थे । टीमों में समझौता भी तो हो जाता है । सभी नदियों पहाड़ पोड़े ही कोड़ती हैं, कोई रास्ता बदल कर, घूम कर भी तो खसी जाती है ।

तुम समझौता कर नहीं सके । क्या तुम्हारी भी वही बमजोरी ही, जो होरी को ने ढूबी, वही 'नेम-धरम' वाली कमजोरी ? 'नेम-धरम' उसकी भी जंजीर थी । मगर तुम जिस तरह मुस्करा रहे हो, उम्मे जगता है कि शायद 'नेम-धरम' तुम्हारा बन्धन नहीं था, तुम्हारी मुक्ति थी !

तुम्हारी यह पौव की धेंगुली भुझे संकेत करती-सी सगती है, जिसे तुम पूणित समझते हो, उसकी तरफ हाथ की नहीं, पौव की धेंगुली से इशारा करते हो ?

तुम बश उसकी तरफ इशारा कर रहे हो, जिसे ठोकर मारते-मारते तुमने जाता फाढ़ लिया ?

मैं समझता हूँ । तुम्हारी धेंगुली का इशारा भी समझता हूँ और यह व्याय-मुस्कान भी समझता हूँ ।

तुम मुझ पर या हम सभी पर हँस रहे हो, उन पर जो धेंगुली छिपाये और तनुपा घिसाये खत रहे हैं, उन पर जो टीने को बरहाकर बानू में निकल रहे हैं । तुम कह रहे हो—मैंने तो ठोकर मार-मारकर चूता फाढ़ लिया, धेंगुली बाहर निकल आई, पर पौव बच रहा और मैं खतता रहा, मगर तुम धेंगुली को ढाँकने की चिन्ता में तसुये का नाम कर रहे हो । तुम खतोंगे कैसे ?

मैं समझता हूँ । मैं तुम्हारे कठे चूते की बात समझता हूँ, धेंगुली का इशारा समझता हूँ, तुम्हारी व्याय-मुस्कान समझता हूँ ।

क विरा आप ठगाड़ये...

मनुष्य का जीवन यों बहुत दुखमय है, पर इसमें कभी-कभी सुख के क्षण आते रहते हैं। एक क्षण सुख का वह होता है जब हमारी खोटी चवन्नी चल जाती है या हम बर्मर टिकिट बादू से चक्कर निकल जाते हैं। एक सुख का क्षण वह होता है, जब मुहल्ले की लड़की किसी के साथ भाग जाती है और एक सुख का क्षण वह भी होता है, जब 'बाँस' के घर छठवीं लड़की होती है।

इनमें कुछ सुख वे होते हैं जिन्हें हम कमाते नहीं हैं, वे हमारे लिए हमारी कोशिश के बिना आ जाते हैं, जैसे 'बाँस' के घर छठवीं लड़की का जन्म। मगर कुछ सुख हम कमाते हैं, जैसे खोटा सिवका चला देना। जब से नये सिवके चले हैं, खोटी चवन्नी चलाने का सुख जाता रहा। अब उसकी स्मृति ही शेष है। हम जेव में हाथ ढालकर श्रौंगुलियों से टटोल कर खोटी चवन्नी निकालते थे। उसे बेपरवाही से पान वाले की तरफ बढ़ाते थे। भीतर धड़कन होती थी मगर चेहरे पर हम शान्त बनाये रखते थे। जब पानवाला उसे अपनी चिल्लर में ढाल लेता, तब हमें परम आनंद की उपलब्धि होती थी।

यह ठगने का सुख है। इसे ही ब्रह्मानंद कहा गया है। ब्रह्मानंद तब ग्राप्त होता है, जब साधक परमात्मा को ठग लेता है। कई तपस्वी ब्रह्मानंद की प्राप्ति के लिए पूरी जिदगी साधना में वरवाद कर देते थे। वे अगर स्थानीय पानवाले के पास एक खोटी चवन्नी चला देते, तो उन्हें सहज हो ब्रह्मानंद ग्राप्त हो जाता।

ठगते देवता भी हैं। विष्णु ने तो एक सुन्दर स्त्री का रूप धारण करके

अपने साथी और मित्र शंकर को ही ठग लिया था—जैसे कोई प्रोफेशर दूसरे प्रोफेशर का पेपर पार्डट कर दे। ठगने की 'बनाहिं' बटना वह है जब विष्णु चिर एकाकी, विगत योवन, मर्यादा कर यिकाहेषु नारद को स्वयंवर में जाने के पहिते बंदर का पेहरा दे देते हैं। दिदी-भर देखारा मुनि एकतारे पर 'नारायण नारायण' बोलता रहा और नारायण ने उसे ठग लिया। इन्होंने तो तपस्वियों को ठगने के लिए अपाराधियों की एक पसटन ही रखी थी और कई मुनि इसी धारा में तपस्या करते थे कि तपस्या भंग करने के लिए इन्होंने कोई अप्युरा भेजेगा। पर कोई-कोई इसमें भी ठगा जाते थे—वे दिदी-भर तपस्या करते और कोई अपारा नहीं आती थी। मात्रा पुकारती—देवराज, धर्मसरा भेजो ! हम तपस्या कर रहे हैं। और इन्होंने जवाब देता—धर्मी कोई 'स्पेयर' (साक्षी) नहीं है। कृष्ण तो रोज ही किसी को ठगते थे ! ब्रज की गमी में कोई गोपी रोज ही 'ठगी सी' लड़ी रहती थी। प्रेम में ठगना जहरी है। जब प्रेम बहुत गहरा हो जाता है, तब प्रेमिका प्रेमी को छलिया, कपटी और टग कहने लगती है। जो जितना बड़ा ठग होगा, वह उतना ही बड़ा प्रेमी होगा।

मगर कबीरदास बहते हैं कि ठगाने में भी मुग है। यहाँ है—

कविरा धाप ठगाइये और न ठगिये कौय ।

धाप ठगे मुम होत है और ठगे दुग होय ॥

यह बात मेरे गले नहीं ढतरती। मैं तो यिहने महीने ही बड़ी गर्दाँ से ठगा गया, मगर मुझे मुख नहीं टूपा।

मैं दिल्ली स्टेशन पर अपने मित्र के साथ पटानकोट एवं प्रेम में चढ़ा। निछकी के पास बैठे एक मर्जन ने (मिन्हें धागे मैं सगड़न नहीं वह सका) दस का नोट दिल्लातं हुए मुझसे पूछा—“दस एंटोट लोट होंगे ?” मैंने भट्ट जेब में हाय हाना और नोट निकालकर दिलने समा। दुस की नोट दें। वे बोले—“कोई बात नहीं। एक बाद में मैं भूला। मूर्दे जीरक दो रुपये देता है।” मैंने उन्हें नोट दे दिये। वे भट्ट निराकी दी तरफ मूर्दे और लोहर की पुहारा—“रंगनाम, ये मे !” उसे दो रुपये दे दिये, मैंने दोबा—दस का नोट बाद में मैं मूला। मह बाद है :—

रहा है।

मैं अपने मित्रों से विदा लेने लगा। गाड़ी चल दी। मैंने खिड़की की तरफ देखा, तो वह आदमी गायब था। (यहाँ से मैं उसे सज्जन नहीं, जिस आदमी कहूँगा) मैंने आसपास के लोगों से पूछा तो उन्होंने कहा कि वे यहाँ बैठे जरूर थे, पर अभी कहीं चले गये। मैं उसे पूरी तरह पहिचान भी नहीं सका था। मुझे उसके नौकर का नाम अलवत्ता याद था—रंगनाथ। मैंने पूरे डब्बे के दो-तीन चक्कर लगा डाले। जो आदमी मुझे उस जैसा दिखता मैं उसी से पूछता—“क्यों साहब, आपने क्या रंगनाथ को दो रूपये दिये थे ?” वहे पूछता—“कौन रंगनाथ ?” मैं चुपचाप आगे बढ़ जाता।

मेरे दोस्त और वे तीन-चार यात्री मेरी हलचल देख रहे थे। उन्होंने पूछा—“आप उन्हें क्यों खोज रहे हैं ? क्या दस का नोट नहीं लिया ?”

मैंने सोचा, अगर कहं दूँगा कि मैंने नोट नहीं लिया तो, ये सब मुझे महामूर्ख समझेंगे। फिर उन लोगों के साथ मैं लम्बा सफर कैसे तय करूँगा, जो मुझे वैवकूफ समझते हैं। इससे ज्यादा डर मुझे मेरे उस दोस्त का था। वे मुझे पैसा उड़ाने पर बहुत डाँटते थे। एक हफ्ते मैं दिल्ली में हम लोग पास का सब पैसा और उधार लेकर भी खर्च कर चुके थे। मेरे पास कुछ चिल्लर ही और उनके पास भी ४-६ रुपये पड़े थे।

मैं झूठ बोल गया। मैंने कहा—“नहीं, मुझे ही उन्हें एक रुपया देना है।” उन्हें बड़ा अचरज हुआ कि कोई ऐसा आदमी भी इस घरती पर है, जो पैसा लेने वाले को ढूँढ़ रहा है। वे लोग बोले—“तो आप क्यों परेशान हैं ? वह खुद आपको ढूँढ़ लेगा।”

हार कर मैं सो गया। भाँसी में जब सुबह हुई, तो मैंने देखा कि गागाने से ऊपर की वर्ष से उत्तरकर एक आदमी मेरे पास आया। मैंने परेशान लिया। वही था। मैंने कहा—“प्रेरे, आप कहाँ गायब हो गये थे ?” उसने कहा—“मैं यका था, इसीलिए सो गया था।” मेरे दोस्त ने कहा—“ये तो आपको बहुत सोजते रहे।” उसने सहज भाव से कहा—“आप क्यों परेशान हुए साहब ? एक ही रुपये की तो बात थी। मिल जाता।”

मेरे मन में कौटा चुभा । वह चुपचाप पढ़ा-पढ़ा मेरी बात सुन रहा था । पर घबड़ मैं उससे दस का नोट कैसे माँगूँ ? मैं सबसे वह चुका था कि मुझे ही उसे एक रुपया देना है । घब घण्टर मैं उससे दस का नोट माँगूँ, तो ये सब मुझे ही ठग समझेंगे । मैंने चिल्लर इकट्ठी करके उसे एक रुपया और दे दिया ।

मैं ठगा गया । पर जिस सुस का संकेत कबीरदास ने किया है, वह मुझे नहीं हुआ । चाय और नाश्ता तो मेरे मित्र ने अपने पैतों में करा दिया । वे आगे उसी गाड़ी में बढ़ गये और मैं दूसरी गाड़ी में जबलपुर तक मूँछा बैठा रहा ।

कबीर के इस दोहे पर मैं बार-बार विचार करता रहा । भासिर उनका भतलब क्या है ? उन्होंने उलटबासियाँ जरूर कही हैं, पर यह तो उलटबासी नहीं है । एकाएक मुझे मूँछा कि कबीरदास ने यह नहीं बताया कि किससे ठगने से सुख होता है । भासिर ठगने वाला कैसा होना चाहिए ? दूसरे पदों में इसका पता किया । वह ठगने वाला नहीं है, ठगने वाली है । उसका नाम 'माया' है—'माया महा ठगिन हम जानो' । यह माया इहां को ठगने के लिए बाहुणी बनी बैठी है और शिव को ठगने के लिए भवानी बनकर बैठी है । कबीर पन्थी सापु गाते हैं—'ठगनी यथा नैना मटकावै !' वे सब ठगने वाली माया को जानते हैं । सिफ़ूँ मैं भभागा नहीं जानता । 'माया महा ठगिन हम जानो'—महात्मा, तुम तो जानो, पर हम तो नहीं जानी कि ठगाना हो तो माया से ठगाना चाहिए । हम तो तैयार बैठे हैं कि हमे माया आकर ठगे । माया साती न हो तो उसकी 'सिस्टर' ही आकर ठग ले, या कोई माया की राहपाठिनी ही ठग से । इनसे ठगने से तो सबमुच्च सुख होगा । पर ये तो नहीं धार्यों । ठगा गया रंगनाथ के उस बैर्डमान मालिक से ।

कबीर के इस दोहे का बाकी भर्य भी मेरे सामने उपड़ गया । दूसरी पवित्र में कहा है—'याप ठगे सुख होत है, और ठगे दुख होय'—याने धार घण्टर किसी को ठगेंगे तो आपको सुख होगा । कोई और उसे ठग लेना तो आपको दुख होगा कि हम उसे नहीं ठग पाये ।

एक प्रकाशक मुफ्तसे उस दिन कह रहा था कि घमुक प्रवाहक तो

आपको ठग रहा है। उसे दुख हो रहा था कि दूसरा प्रकाशक मुझे ठग रहा था और वह नहीं ठग पा रहा था।

मगर यह प्रचार कि मैं तो ठग जाता हूँ—दूसरे को ठगने की भूमिका बन सकता है। एक आदमी ने अपना प्रचार कर रखा था कि मैं तो वालक की तरह भोला हूँ और मुझे कोई भी ठग लेता है। उसके प्रशंसक कहते थे—धरे भई, उसे तो कोई भी ठग लेता है। कोई उससे उसकी लैंगोटी भी माँगे, तो वह उतार कर दे देगा।

मैं एक दिन उस सन्त के पास गया। मैंने देखा कि उनके पास ही दूसरों की उत्तरवायी हुई १५-२० लैंगोटियाँ रखी हैं। बात यह थी कि उसके सामने लोग जब जाते, तो यह मानकर कि वह तो बहुत भोला है, अपनी लैंगोटी की तरफ से ग्रसावधान हो जाते और वे धीरे से गफ्लत में उसकी लैंगोटी उतार लेते। मैं फ़ौरन अपनी लैंगोटी बचाकर भागा।

मैं भी सोचता हूँ कि जब ठग गया हूँ तो एक बार किसी को ठग-कर देखूँ। अगर आव भी माया ठगने नहीं आयी तो मैं खुद रंगनाथ के मालिक को ढूँढ़ कर ठगूँगा।

कलाकार है। मैंने उसे एक सम्मान समारोह में देखा। स्टेज पर तो देख नहीं पाया क्योंकि उस 'जन-कलाकार' के जन-नाट्य के टिकिट दस और पाँच रुपये के थे। समारोह-भवन में पहुँचते ही उन्होंने कुहनी तक हाथ जोड़े, नाक को कुहनियों की ठीक सीध में किया और सिर झुकाया। एक क्षण में मशीन की तरह यह हो गया। वे उसी मुद्रां में मंच पर आये। कुहनी तक हाथों की कौसी श्रद्धाभूत संपुट थी वह! और सिर किस करीने से झुकाया! मैंने इतना अच्छा अभिवादन कभी नहीं देखा था। मैं उस विनय को देखता ही रह गया। कितना नम्र भाव! कितनी निरभिमान मुद्रा! कितनी अकिञ्चनता! कितना निरहंकार।

लेकिन जब वे कुर्सी पर बैठे और उस हाल में खचाखच भरे प्रशंसकों पर दृष्टि डाली तो मैं चौंका। मैंने वडे गौर से देखा उस दृष्टि को। क्या था उस दृष्टि में? लगता था जैसे विश्व-विजेता वादशाह अपने गुलामों को देख रहा है! सच! मैंने पास बैठे मिश्रों से पूछा। वे सब वड़ा कष्ट अनुभव कर रहे थे। एक-दो उठकर चल दिये। मैं बैठा रहा, पूरा खेल देखना था।

वे सम्मान का उत्तर देने को सड़े हुए। फिर कुहनी तक संपुट बांधी। नोले, "मैं तो आपका पुत्र हूँ.....आपसे आशीर्वाद लेने आया हूँ.....मैं जनता का सेवक हूँ.....शाशीर्वाद तीजिये कि देशवासियों की सेवा करता रहूँ!" ताजियाँ पिटी। इसके बाद उन्होंने और भी कमाल किया। न जाने उन्हें क्या समझ में आया। शायद यह कि ये सब लोग मेरे पारिवारिक जीवन में वही दिलचस्पी लेते हैं, या यह कि ये सब नादान वच्चे हैं जिन्हें मैं अपनी कहानी सुनाकर बहलाऊ; या यह कि ये सब भवत हैं, इसलिए मेरी 'रामकथा' शद्वापूर्वक सुनने के पात्र हैं—जो हो, उन्होंने आत्म-चरित आरंभ कर दिया। हर वाक्य का आरंभ 'मैं' से होता। किसी-किसी वाक्य का अंत भी 'मैं' से ही होता जैसे—'दिल्ली पहुँचा मैं।' उन्होंने श्रव तक क्या-क्या कर डाला, यह बताया। पत्नी का परिचय दिया, प्रशंसा की और उसके 'खर्च' पर एक-दो मजाक किये। मुश्रों के चरियों का विवरण दिया। रितेदारों का विनोदमय हाल बुनाया। अंत में फिर कुहनी तक हाथ जोड़े और वही, "मैं तो आपका

मुत्र हूँ..... यासीर्वाद दीविये..... जनता का सेरह !” भाषा में प्रदर्शन पुश्प एक बच्चन के सिंहा सर्वंताम नहीं ।

मैं उठा । परबर हात था मेरे मन का—हँडी का रही थी दर दोस्त की भी था । उन इन्हों और मुझाओं का सप्तमार्द मेरे कानों में भूज रहा था, ‘हे मेरे प्रगत्यस्तो ! तुम सब बहुत मानूनी सोय हो; मैं महान हूँ । मैंने तुम्हारे बीच आकर तुम्हें इठायें कर दिया ।’ हान से बाहर निरलते-निकलते, जब उन्होंने किर बुहनी तक मंत्रुद बीची और उसे झुकाया, तो मुझे लगा कि यह हम जोगों को ठमाने जह रहा है ।

मैं मित्रों के साथ पर पहुँचा । हम जोग नूब हैं । इनमे मन का कुस्वाद बम हृषा । हम सोग बढ़ी देर तक बुहनों तक हाथ जोड़कर नपस्कार करने का धम्यास करते रहे । प्रमोद पहुँचे तक मिसा नेता था, थीदान बुहनी के पास तक मिसा तो सेता था, पर हप्पलो-सी परी मानूम होती थी । मैं घमी तक धम्यास कर रहा हूँ । मुझे भी छोटे-मोटे समारोहों में जाना पड़ता है, भाषण भी कभी-कभी करना पड़ता है । अबर मुझने यह मुद्दा साथ गई, तो मेरा ‘हो’ बढ़िया हो जायगा ।

यह सब क्या विनय है ? हरगिज नहीं । यह तो बड़े सत्तरनाक और पूणित किस्म का दंभ है । दंभ हर हासित में बुरा ही होता है, पर जब वह विनय के माध्यम से प्रकट हो, तब तो बहुत कटु हो जाता है ।

अपनी बात जानता हूँ । पिछले साल एक महान् शवि की जयती पर एक नगर में मैं भाषण दे रहा था । मेरा खूब बड़ा-बड़ा प्रशंसामय गतिशील दिया गया था—जिस महान् को जयंती थी, उसने कुछ ज्यादा ही । मैं जब बोलने को उठा तो जो विनाशिता का भाव मैंने पहिना, उसकी कल्पना कर पात्र भी हँसी भाटी है । मैंने खूब नीचा मिर करके, हाथ जोड़, तातियाँ स्वीकारी । किर बोला, “मैं बहुत माधारण राहित्य-सेवी हूँ । भाषके सामने बच्चा हूँ । मैं ज्ञान की बातें कथा जानूँ ? मैं तो द्वयं अपनी धर्मज्ञता से सजा रहा हूँ । पर जैसा योस्वामी जो ने बहा है—‘जो बासह कहि तोतरि बाता । मुनहि मुदित मन पिनु धर माता ।’ मैंने डेढ़ घंटे भी दिया । इतना ज्ञान और धर्मज्ञान था, सब उड़ेग दिया । परसं जब मैंने उन विनय-यात्रों की याद की, तो बहुत संग्रित हृषा । मैंने

वाक्यों का अभिव्याख्य विनियपूर्ण था, पर मेरे मन में कुछ ऐसा अहंकार दहाड़ रहा था, “रे मूढ़ो ! मैं परम ज्ञानी हूँ। देखो मैं अंभी ज्ञान-कण वरसाता हूँ, तुम अपनी-अपनी झोली भरो !”

मैंने ‘निराला’ की उद्धतता देखी है। ‘उग्र’ की कितनी ही गर्वोक्तियाँ चुनी और पढ़ी हैं। पंडित नेहरू वर्नार्ड शा के लिए आम ले जा रहे थे, तब ‘उग्र’ ने कहा था—“पंडित नेहरू यो यह मालूम नहीं है कि यहाँ ‘उग्र’ भी आम साता है। वर्नार्ड शा के लिए आम ले जा रहे हैं, तो इस साल ‘उग्र’ आम नहीं खायगा !” वर्नार्ड शा की अगणित दर्पोक्तियाँ लोगों की जवान पर ही हैं। अपने को शेवसपियर से बड़ा तो वह कहता ही था। उसकी कीर्ति जब स्थिर नहीं हुई थी, तभी उसने घड़े गर्व से लिखा था कि मैं दस सालों से अंगरेजों को समझा रहा हूँ कि मैं एक असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न लेखक हूँ। ये सब गर्वोक्तियाँ मुझे अच्छी लगती हैं। इनके दंभ ने नक्काब नहीं पहिना है; खुलकर प्रकट हो गया है। इनमें एक लुभावना फक्कड़पन है, जो अहंकार को गला देने पर ही उपलब्ध होता है। पर विनय के रेशमी पद्म में छिपा अहं का कौटा बड़ा घृणित होता है, खतरनाक भी।

विनय की मुलायम मखमली म्यान के भीतर हम दंभ की प्रखर तलवार रखे रहते हैं।

गांधी-युग से ‘जनता-जनादंन’ शब्द नेताओं की जवान पर चढ़ गया है। कितने लोग मंच से घोषणा करते हैं—“मैं जनता-जनादंन का सेवक हूँ !” इस मखमली म्यान के भीतर अक्सर यह तलवार होती है—“मूर्खों ! मैं तुम्हारा भाग्य-विधाता हूँ !” कितने हो लोगों के अहं का भालू मंच पर एकदम भेषना हो जाता है। कुछ लोग तो आठों पहर रंगमंच पर रहते हैं, हर क्षण एक्टर; दिन-रात रामलीला का ‘सरूप’ घरे रहते हैं। मिथ्रों, परिचितों तक के सामने अभिनय करते हैं। ये भनुप्य नहीं लगते, नाटक के सजे पात्र मालूम होते हैं। शेवसपियर ने संसार को ‘स्टेज’ कहा है, ये लोग ‘स्टेज’ के भीतर ‘स्टेज’ बनाकर औवर-एकिंटग करते हैं। एक बड़े साहित्यकार से मेरा परिचय कराया गया, तो उन्होंने चौड़ी मुस्कान धारण की और हाथ जोड़ मोटर में बैठते-बैठते बोले—हिन्दी बड़ी रंक है, उसने मापके सामने झोली फैलाई है, उसे मणियों में भर दीजिये।

मुझे सागा कि परिचय होते ही ये एकदम उमड़ कर मंथ पर चढ़ गये।

विनय के रेशमी पद्मे के पीछे घर्षण की कुस्तियां छिरी नहीं रह सकनी। घर्षण की प्रहृति ही प्रदर्शन की है, वह नकटों की तरह धार्दिना देखने को उत्सुक रहता है। कुछ नकटों को धार्दिना देखकर भी यह समझ में नहीं आता कि नकटापन कुस्तिया है। वे समझते हैं कि कट जाने से नाक गुदोल हो गई। बिल्ले होते हैं, जो कटी नाक को विहृति स्वीकार कर देते हैं। मेरे एक मित्र ने मुझे बताया कि उनका एक मित्र उन्हें हमेशा 'पासरगी' करता है और सबके सामने कहता है कि मैं तो धापका सेवक हूँ। मित्र के भन में गवं जागा कि वह उनकी महत्त्वा के सामने नतमस्तक है, गुच्छों के प्रति अदासु है। मित्र कहने लगे, मैं किंहैं फूसा-फूसा कि यह अकड़बाड़ धादमी मेरा भवत है। एक दिन गुम्बारा कूटा। वह बोता—पठितवी, हम तो गो-बाहुण-कन्या को हमेशा पूज्य मानते हैं। वह मुझे मात्र बाहुण समझकर प्रणाम करता था।

झूठी विनय के कितने ही विद्वप देखे हैं। एक बार एक अफसर-कवि से मेरा परिचय हुआ। अफसर-कवि एक लास प्रकार का प्राणी होता है। 'अफसरी' रोब और कवि की कोमलता में निरंतर संघर्ष चलता रहता है। उनकी बातचीत मधु की तरह थी—"धापको देख देता हूँ तो धंतरतम के तार झूँत हो जाते हैं।" होते होंगे। तार हम कहीं से सावें? हमारे धंतरतम में तो नगाड़ा है—गडगडाता है, झूँत नहीं होता। मैं उन्हें पहिले ही नमस्कार कर देता। वे समझे होंगे कि मैं उनका भूल हो गया। अब वे सड़क पर मिलते तो दूर से ही मेरी ओर टकटकी साधारे, मेरे हाथ जुड़ने की राह देखते रहते। उत्सुकतावश उनके हाथ दोनों बार धारे रास्ते तक आकर फिर गिर जाते। वे पहिले हाथ कैसे उठावें? पगर मैं हाथ न जोड़ता, सो वे मेरे बगल से दिना मुझे पहिचाने निकल जाते—'धंतरतम के तार झूँत करते हुए।' भासिर मैंने उन्हें 'म्लेंक मुह' देना शुरू किया।—उन्हें देखता हुआ दिना नमस्कार किये निकल जाता। फिर तो वे ही कभी-कभी पहिले हाथ जोड़ने लगे। विनय का रूपक धंतरतम की निभा से जाना बड़ा कठिन है। जिस कसाकार की प्रेरणा से मैं 'जिमनास्टिक' कर रहा हूँ, उसका रूपक गुडब का है। कुहनी—

संपुट, ठीक सीधे में नाक, नयनों में असीम कातरता ! विल्कुल शिशु-
सारल्य ! भगर फिर उसकी वह दर्प-दृष्टि, जिससे धनवरत शब्द भरता
था—‘तुच्छ तुच्छ !’ प्रौर फिर वह प्रथम पुरुष एकवचन सर्कनाम !
मध्यमल की म्यान में छिपी तलवार ।

‘बने हैं दोस्त नासेह !’

शुभचिन्तकों ने किसी की जिन्दगी बरबाद कर दी ! हमारे सम्मूर्ज हिताहित को, राहज ही सोत्साह हमारी बिना मर्यादा के हथिया से वासे शुभचिन्तक से चढ़ा दुश्मन कोई और नहीं । शुभचिन्तक यदि केवल ‘शुभ’ की ‘चिन्ता’ की मर्यादा में रहे, तो हम उसे वर्दान्त कर गकते हैं । जैसे हम उस दुश्मन को सह लेते हैं जो मन में हमें गाली देता है । मगर ‘शुभ-चिन्तक’, ‘उपदेशक’ हुए बिना नहीं मानता, क्योंकि वह मानने भी कठई तीव्रत नहीं कि तुम ठीक राह पर चल रहे हो । तुम हिमालय के निम्न पर भी बैठ जापो, तो भी सगेगा कि तुम किसी गड़े में पड़े हो; और दहों से उसका काम गुरु होता है कि नसीहत की रसमी ढान-ढालकर तुम्हें उस गड़े से बाहर खीचे या रसी की फँगी सगा दे । ये शुभचिन्तक-उपदेशक भनुष्य के तन और मन के सहज निर्वाहकीस घरों को उचित-धनुषित के परस्पर विरोधी दलों में बाटकर उसके सामने यह करो और यह मत करो की ऐसी गूल-मुनेया रथ देते हैं, कि बेचारे का अविनत्व भटक जाता है, सो जाना है ।

कैसी मुसीबत है कि गुबह से आम तक या गूरज की रोगनी से उजसा रामय इन ‘जिन कारण पर उपकारी’ जनों की सासाह और नसीहत सुनते-मुनते बीत जाय । गोया धारकी जिन्दगी, धारपी परनी जिन्दगी से अधिक उमरकी अपनी जिन्दगी है ।

हमारी हो और भी मुसीबत है क्योंकि हम वहे ‘गुनने वाले’ माने जाते हैं । दुनिया में हर दिन ‘गुनने वासे’ पटते जाते हैं और ‘गुनने वासे’ बढ़ते जाते हैं । इस गिरती के जमाने में भी मैं ‘गुनने वासा’ हूँ—

ठीक 'सुनने वाला' भी नहीं हूँ, 'सुन लेने वाला' हूँ। और कई लोगों की प्रतिष्ठा इसी बात पर तुली है कि मैं उनकी बात सुन लेता हूँ।

मगर मुझ जैसा परम धर्मवान् श्रोता भी उपदेश देने वाले से कभी-कभी कह देता है, 'हे भाई ! तुम्हारे दड़े-दड़े रत्नारे नयर्णों से क्या यह नहीं सूझता कि मेरे कन्धों पर यह जो घड़े जैसी चीज रसी है, वह मेरा दिरहै ?' पर कोई सुनता नहीं है। पुभचिन्तक से बचना वहाँ मुश्किल है।

सोचता हूँ, ऐसा क्यों होता है ? डवरे की कीचड़ में नहाने वाला गंगा-स्नान करने वाले को क्यों उपदेश देता है ? गहरा गढ़ा हिमालय की ऊँचाई से क्यों कहता है, "अभी कुछ नहीं है ! बहुत नीचे हो ; जरा और उठो !" जो मुहल्ले में ही भटक जाता है, वह संसार-न्याय के लिए किसी का पथ-प्रदायक बनने को क्यों बेहिचक तैयार हो जाता है ?

एक कहानी पढ़ी थी। (लेखक का नाम याद नहीं) विघाता जब मनुष्य को बनाकर दुनिया में भेजने लगता है, तो उसके कान के पास भूंह लगाकर धीरे से कह देता है कि देख, दुनिया में सबसे अधिक अकल मैंने तुझे को दी है। हर एक से विघाता यही कह देता है और इसीलिए आदमी जन्म से ही उपदेशक हो जाता है।

का भत्याचार तो आदमी भी सह लेता है, मगर अपने ही जब ढायें, तो आदमी को बड़ी पीड़ा होती है। जिस दोस्त से प्यार की ओं की उम्मीद हो, वह उपदेश को फड़वाहट दे ! किसी ऐसी ही पीड़ा के क्षण में गालिद ने कहा होगा—

ये कैसी दोस्ती है, वने हैं दोस्त नासेह
कोई चारासाज होता, कोई ग्रमगुसार होता

X X X

सुरेन्द्र भव यहीं नहीं है। सुना है वर्ष्वर्ष में है और मजे में है। जाने के पहिले को एक पटना मुक्ते खूब याद है।

एक दिन चौराहे पर पान के ठेले के सामने मिल गया। बोला, "एक सिगरेट तो पिलायेंगे न ?"

मैंने कहा, "सिगरेट पीना तो मैंने छोड़ दिया ।" वह तपाक से बोला, "पिलाना तो नहीं छोड़ा ?"

हम सोग विस्तिसाकर हँसे और दाण-भर में धारापाता की समस्त मतिनता पुल गई।

वह गम्भीर हो गया। कहने सगा, "मैं नौकरी छोड़ रहा हूँ।"
मैंने कहा, "छोड़ दो।"

वह किर बोला, "इस साल एम० ए० मे भी नहीं बैठूँगा।"
मैंने कहा, "मत बैठो।"

वह कहने सगा, "मैं शहर छोड़कर जा रहा हूँ। युछ समय अन्यथ रहूँगा।"

मैंने सहज ही कह दिया, "धते जाओ।"

बस वह मुझसे लिपट गया। बोला, "एक तुम्हीं मिले हो, जिसने उपदेश नहीं दिया। जिसमे भी मैंने यह बात कही वही सत्ताह देने सगा, 'परे भाई सगाई नौकरी मत छोड़ो; मीथे रास्ते चमो; बिन्दी बरबाद मत करो ! इतनी सत्ताह वे मौजे उड़ेकी गयी है कानों में, कि परेशान हो गया हूँ।'

एक दिन देवेन्द्र मेरे कारण बड़े चिन्तित दिये। कहने सगे, "तुम यसत जा रहे हो। प्रपनी प्रतिभा को नष्ट कर रहे हो। मानूम होता है, वह नीसी धाँखो की परी तुम्हारे मन मे समा गयी है। वहा नहीं है ? 'प्रोरत के मत करेब में था जाईयो 'प्रसद' (कवि की सारमा भाक करे; उसने यह कतई नहीं कहा। उसने तो कहा है—हस्ती के मत करेब में था जाईयो प्रसद)

मैंने देवेन्द्र से बड़ी मिठाल से कहा, "मित्र, तुम मित्र ही रहो, उप-देशक न बनो, तो युछ हज़ेर है ? भुझे उपदेशक प्रमंस्य मिलते हैं। तुम्हारे दिमाग का उपदेश नहीं चाहिए, हृदय का स्नेह चाहिए। तुम्हारा हृदय मेरे हृदय मे चिंचकर दुगुना हो जायगा, पर तुम्हारा दिमाग नगर मेरे दिमाग में समा गया तो मेरे हाथ बया लगेगा ? तुम घगर उपदेशक हो गये, तो मैं एक मित्र खो दूँगा।"

पर देवेन्द्र छहरे उपदेशक, और उपदेशक इतनी सरसता से इसी बात नहीं जानता। वे उपदेश देते रहे और मैं उन्हें समझता रहा कि 'नीसी धाँखो की परी' से विस्तृत ढरने की बात नहीं। वह

परिचिता है, मिश्र होने में देर है अभी। और मिश्र हो जाने के बाद तो आशंका की कोई बात ही नहीं है।

पर एक दिन वह नीली ग्रांखों की परी मुझसे कहने लगी, “ये देवेन्द्र साहब, कुछ यूँ ही आदमी दिखते हैं। एक दिन वडे अजीव ढंग से कहने लगे, “आपके केश वडे अच्छे हैं—वडे स्तिंघ, वडे चमकीले, मुझे वडे अच्छे लगते हैं। ये चाहे जहाँ देह देते हैं। मुझे डॉटना पड़ा उन्हें कि आप फालतू बातें मत करिए।”

अक्षमता नैतिक उपदेश की जननी होती है। हमारी जिदगी के अनेक अभावों में से कितनी नैतिकता जन्म लेती है। पांच गांवों की भी माँग पर जब दुर्योधन ने पांडवों को श्रेणूठा दिसा दिया, तब अगर पांडवों में लड़कर ले लेने की क्षमता नहीं होती तो वे क्या करते? वे जरूर राज-पद की निस्सारता पर भाषण देते। स्थाग की महत्ता गाते; दरिद्रता को महिमा-मंडित करते। क्षुधा से पीड़ित विश्वामित्र ने जब चांडाल से मांस साने के लिए मांगा, तब चांडाल के उपदेश देने पर यहीं तो कहा था कि मूर्ख उपदेश तो मेरे भीतर बहुत भरे हैं, पर इस पेट का क्या करूँ? सब नैतिक नियम और धर्म-नीति अक्षमों को भयभीत करने के लिए बने हैं। हत्या के अपराध में जो राज्य अपराधी को प्राणदण्ड देता है, वही युद्ध में लाखों मनुष्यों को मरवा डालता है। तब उसका जयजयकार ही होता है।

लेकिन मैं बात अपनी परेशानी की कर रहा था। जो आता है, वही कहता है कि ‘उस’ राह गये तो काँटे चुभे ‘इस’ राह जाते तो काँटे न ढूँभते। सबरदार, ‘उस’ राह मत जाना! कोई ऐसा क्यों नहीं मिलता जो काँट निकाल दे, स्नेह से सिर पर हाथ फेरे। और मैं फिर उसी राह पर चल घायल होकर लौटूँ तो उसके स्नेह की छाया फिर मेरे लिए आनुर रहे। मैं हर बार यही गलती करूँ और हर बार उसका स्नेह बढ़ता रहे। लेकिन यह भावुकता ही है। यह तो कविता हो गई और कविता का सम्बन्ध क्या जिन्दगी से होता है? शायद हमेशा नहीं।

लोग कहते हैं कि मिलता है कभी ऐसा मिश्र जो मिश्र की कमज़ोरियों से भी प्यार करता है। सखी री अवगुन गुन हूँ लगे—इसी उत्कृष्टता की भाषा है। लोग कहते हैं कि मिलता है ऐसा मिश्र जो ‘मिश्रता’ को ‘दासत्व’

तहीं होने देता, जो मित्र के व्यक्तित्व को बाधने की तरह मोहर देव
नहीं रखना चाहता।

सोग कहते हैं तो मिलता ही होगा। संविन प्रभी इनमें केवे रक्षा
की जाय, जो पीपे के आसपास दीवार नदी करके, उग्रो रगड़ानी
करके, उसे बाग का शीता पीपा बना देना चाहते हैं? क्यों नहीं उसे
बुझा छोड़ते? क्यों नहीं उसे गूरज की भाग, वर्षा के परेंटे और शीत की
बार सहने देते, ताकि वह विजात घट-दृष्ट बन सके?

कैलेंडर का मौसम

मेरे एक परिचित शास्त्री जी ने, जिन्होंने हिंसाव लगाया है कि वेदों की रचना ठीक दस अरब वर्ष पहले हुई थी, एक दिन गणना करके मुझे बताया कि कृष्ण दुर्योधन के पास संधि-प्रस्ताव लेकर जनवरी के महीने में गये थे। तारीख तो वे नहीं बता सके, पर इतना निश्चित बताया कि वह जनवरी का प्रथम सप्ताह रहा होगा। तभी से हर साल जनवरी के महीने में मेरे मन में शंका उठती है कि पुराणकार ने ग़लत लिखा है कि कृष्ण ने संधि-प्रस्ताव रखा जिसे दुर्योधन ने ठुकरा दिया। कोई और महीना होता, तो मान भी लेता। मगर जनवरी में कौन इतना खाली बैठा है कि किसी की ओर से संधि-प्रस्ताव लेकर किसी के पास जाय! नहीं, वे इस काम से नहीं गये थे। जनवरी में हर समझदार आदमी कैलेंडर बटोरने में इतना व्यस्त रहता है कि उसे दम मारने की फुरसत नहीं मिलती। जब हर अदना आदमी, हर छोटे-बड़े व्यापारी से इस महीने कैलेंडर माँगता फिरता है, तब यह कैसे मान लूँ कि कृष्ण-जैसा महापुरुष दुर्योधन जैसे राजा के पास जनवरी के पहले सप्ताह में जाय और कैलेंडर न माँगे!

कृष्ण ने ललककर कहा होगा, “राजन्, नये साल का कैलेंडर दीजिये न! सुना है बहुत अच्छा निकला है।”

दुर्योधन ने जवाब दिया होगा, “आप देर से आये। सब बैठ गये। इस साल कम ढपाये थे।”

कृष्ण को बहुत बुरा लगा होगा। जब हम साधारण आदमियों को कैलेंडर न मिलने पर मूर्च्छा-सी आने लगती है, तब उस महापुरुष का यथा हात हुआ होगा! पर वह बीर था। हम-जैसा दब्बू नहीं था कि जो

दुष्टनशर कंतेहर न दे, उसी को दुष्टन पर विरहान सप्तरेणे द्वे चरते हैं। उसने मकोष कहा होता, "मच्छा, कोई बाट नहै। ये भी देख नूंहा। पर दुन्हारे वंग का चमून नाम न करवा दिया, तो हमन नाम नहीं।"

पौर वब शुभ्रेत्र में शर्वन ने हरिजार खाल दिये और तुड़ के शिख गये थे, तब शृण्ड ने कहा होता, "पादं, तुल कौर दन का संहार करो। वह वही दुयोगन है, जिसने मुझे दम दिये कंतेहर नहै जिया था।"

वही दुष्ट कन्धना है। है न? पर ऐसा क्या है? इस कल्प देरी ऐना पर कंतेहर आ जाता है। मुझे जप्ता है, सारे अहृत्याक में कंतेहर ही कंतेहर है और हर घादनी अधिष्ठ-से-अधिष्ठ कंतेहर बटोर रहा है। ये अहृत्याक कंतेहर मौदते हुए घारुकान की महरों पर भूम रहे हैं। शूर्य मुबह में दाम तब दुनिया-भर में कंतेहर मौदता हृषा भूमता है और जिर एकर सो जाता है। एसी मुबह उठाहर कहते हैं, "हमें कंतेहर सो!"

तुनमीदास ने कहा है कि अपम नर-देही का एक ही साम है—राम-भक्ति! मेरी घारणा है, मौं ही मनुष्य-योनि साप की सान है, पर इसमें एक परम साम यह है कि मनुष्य जनवरी में कंतेहर मौप सहता है। पौर दिनी योनि में जीव को यह जान नहीं होता कि जनवरी घा गयी, कंतेहर बटोरने चाहिए।

संकिन मैं प्रभागा हूँ। दुनिया में 'सहस वदारप' है, पर वे 'कर्महीन नर' के लिए नहीं हैं। कंतेहर की भूट मधी है और मैं एक भी नहीं सा पाण। भर बरसात के दिन मैं बनस्पति लहस्हा उठती है, बेवज जपागा फूल जाता है। एक दिन मेरा एक मित्र पर आया। बैठते ही उसने दीवारों पर नजर पूछायी और मेरी ओर बढ़े दयाद्वं नदरों से देखार बहा, "परे, दुन्हारे यहीं तो कंतेहर ही नहीं है।"

मैं उमड़ी नजरों से बहूत गिर गया। वह भी कोई घादमी है, जिसकी दीवारें इस मर्हीने में भी नंगी हैं! वह भी कोई बूता है जिसकी घागाएँ भर बहार में भी पत्रहीन हों। मैं ज्ञानि से गल गया। जमें पर नमर इदुरा पढ़ोस के एक सहके ने। वह आया और बोला, "पाषाणी, बाहूनी,

ने कहा है कि शाम को हमारे यहाँ कैलेंडर देखने आइए न !”

मैं मन की पीड़ा दबाकर गया और वहाँ जो देखा, उससे अपना जीवन निरथंक मालूम होने लगा। दीवारों पर दर्जनों रंग-बिरंगे कैलेंडर टैंगे थे। गृहपति ने हर कैलेंडर की विशेषता बतलायी, उसका इतिहास बतलाया। बताया कि पिछले साल इस कंपनी के कैलेंडर में कौन-सा चित्र था और उससे पहले साल कौन-सा ! उन्होंने बतलाया कि कौन कैलेंडर कितनी कठिनाई से उन्हें उपलब्ध हुआ। कहने लगे, “यह अमुक कंपनी का कैलेंडर है। इस शहर में जो ‘ब्रांच’ है, उसमें सिर्फ पन्द्रह आते हैं। सब वडे लोगों में बैट जाते हैं। मैं तीन साल से फ़िराक में हूँ। इस साल ऐसी तिकड़म सेली कि एक मिल ही गया। वडे-वडे साहब टापते हुए रह गये।”

उस क्षण मुझे लगा कि आज पुरुषार्थ का लक्षण कैलेंडर बटोरने के सिवा और कुछ नहीं है। आज हुस्तबानी होती, तो सात सवालों के जवाब न मांगती। वह कहती, ‘ऐ लोगो, जो मुझे अमुक सात कंपनियों के कैलेंडर ला देगा, मैं उसी के साथ शादी कर लूँगी।’

घर में भी मेरी प्रतिष्ठा गिर गयी। घर के लड़कों ने दूसरों के घरों में कैलेंडर देखे, तो कहा, “मामा, हम लोग कैलेंडर नहीं टांगेंगे ?”

मैंने डांटकर भेंप मिटायी कि कैलेंडर टांगने का शौक है ! जाओ, पढ़ने चैठो ! गधे कहीं के !

अपना निकम्मापन तब साकार हो गया, जब एक दूर के परिचित सज्जन एक दिन आये और वडी आत्मीयता से बोले, “परसाई जी, हमारा एक काम करा दीजिए। आप ही से ही सकता है। अमुक कंपनी के मैनेजर से श्रापका अच्छी पहचान है। उनसे कहकर हमें एक कैलेंडर दिला दीजिये न !”

हे माँ धरित्री, तू फट जा, मैं समा जाऊँ ! दूसरे लोग मेरी सिफ़ा-रिश से कैलेंडर पाना चाहते हैं और मैं अधम, कर्महीन अभी तक एक भी नहीं पा सका।

मेरी दीवार पर एक निहायत ग़रीब कैलेंडर टैंगा है जो मकान मालिक ने शायद इसलिए भेज दिया है कि मुझे किराया देने की तारीख

याद रहे । यह देवता सुन्ने मुख्य माम रहा है; "हे अंडमनि, तू वैष्णव नहीं क्योंकि दरों का दामानुदास है । दाने तोत और इसे सोतों की दीवारों पर देने कि क्योंकि दर दिमें रहते हैं ।"

पानिर एह दिन मेरा भाष्य भी जागा । दूसान पर शाहज शरीरकर चलने सका, तो दूसानदार ने रहने का इच्छा किया । वह पत्तमारियों की पाइ में गया और वही में बाही घाहरों की नदर बचाने का अंदेत दिया, जैसे पर्वीया परिवर्तनों की दृष्टि बचाने के लिये को प्रभिन्नार का अंदेत बरली है । मैं गया । उसने उमेर अन्दी-बहरी गोन सोते हुए और देर हाथ में हैं तूँ खोने वाले कहा, "बुपचाप ने जाइए । इसी दरवाजे में । खोई देगा न ने । इस मान इस दृश्याम है ।"

मैं खोर की तरह दूसरे दरवाजे में निकला । सहर पर आजा तो यह सुखकर फूल दटा कि इनने बड़े-बड़े घाहरों में मैं उसने क्योंकि क्योंकि दर का अधिकारी ममझा ।

रास्ते में एक मिश माइक्रो पर जा रहा था । मुझे देगा तो इतर पहा । मैंने सोचा, मुझे घाज खोई प्रनदेगा नहीं बर सकता । मेरे हाथ में भी घाज क्योंकि हर है । उसने कहा, "वही में कठार साये, देगूँ !"

उसने उसे सोतार देगा और सरेटवे हुए बहा, "कुशारे ही दोग्र है, यह ! घरे यह सी रिएने हाल वा है । उसने मिर्क तारीयों के बने छावाकर जोड़ दिये हैं । मुझे दे रहा था, पर मैंने जैने मैं इनकार बर दिया ।"

मैं ऊपीन पर आ गया, ममझ गया, घट्टा क्योंकि दर दिया पुआयं के नहीं दिन महता । जौन माम-भरपूरे दूसानदारों में बर देने हैं, "घासने मान हमें क्योंकि दर बहर देना ।" किर दिम्बर में जाहर याद दिया देने हैं । जनवरी में हर परिवित ब्यासारी में बहने हैं, "इस मान वा क्योंकि दर नहीं मिला हमें !"

ब्यासारी घासारानी करता है, तो बहने हैं, "नहीं गाहव, इस तो इस बार में बर ही जायेगे ।" बर जाने हैं, यदों मिलन बरते हैं । तभी जनवरी के महीने में घाजमी क्योंकि दरों की संस्था और मुन्दरता में ओटा था

बढ़ा होता है। इक्कीस कैलेंडर वाले की बाईस वाले से तब तक अनवन रहेगी, जब तक वह एक और न ले आए। पचीस कैलेंडर वाले को घर की मालकिन बीस कैलेंडर वाली पूरी फरवरी तुच्छ समझती है।

कैलेंडर की इस स्पर्धा में जो जीता, वह बाजार में हारा। आज व्यापारी जीत गया और ग्राहक हार गया। व्यापारी पहले ग्राहक के पीछे विज्ञापन दौड़ाता था और ग्राहक उससे कतरा कर निकल जाता था। तब व्यापारी ने विज्ञापन में तारीखें जड़ीं और तस्वीर मढ़ी। अब ग्राहक विज्ञापन के पीछे दौड़ता है और विज्ञान उसे चकमा देता है।

ग्राहक समझता है, मैं जीत गया। पर कैलेंडर सुबह-शाम महीनों तक उससे कहता है कि हे गजे, अमुक तेल लगाओ, तो वाल आ जायेंगे, तब यद्या वह ग्राहक कैलेंडर की सिफारिश अनसुनी कर सकता है? अच्छा ही है कि मेरी दीवारों पर कैलेंडर नहीं हैं। बरना रोज सुबह उठ कर उन पर नजर डालता और अपनी दरिद्रता से परेशान होता। दुनिया में ऐसी-ऐसी बढ़िया चीजें हैं, और मेरे पास कुछ नहीं। इस साइकिल के बिना जीवन व्यर्थ है, इस तेल से आदमी कभी बूझा नहीं होता, ये कपड़े पहने बिना जीने से क्या लाभ! इस टॉनिक को खाकर यह आदमी फौलाद का हो गया। और हम? इस विस्कुट को खाने वाले बच्चे-कैमे गोलमटोल हैं और ये मेरे घर के बच्चे? दुनिया में इतनी अच्छी-अच्छी दवाइयाँ हैं, तब भी मैं बुज्जिस बीमार पड़ने की हिम्मत नहीं करता!

उस ग्लानि से यह ग्लानि कम ही है कि दीवारों पर कैलेंडर नहीं हैं। मगर मेरा इकलौता गरीब^१ कैलेंडर हवा के झोंके से फड़फड़ाकर अभी भी मुझे सचेत कर रहा है, "उठो, अभी बक्त नहीं गया। अभी तो छब्बीस तारीख ही हुई है। कहीं से दो-चार तो ले आओ!"

आयी चरखा बहार

जहर की राधा सहेनी से बहती है—हे रुग्नि, नम के भैने पानी में
केवुएँ और मेंडक आने जाए। मानूस होठा है, मुराबनी मनमालनी बर्दा
क्षतु पा गयी।

जाये वह 'राम नहीं आये' बर्देह प्राइट बाबप बोलती होती,
दिनसे मुझे मतभव नहीं। विराहिती मेष नहीं देखती, नम शोभनर केवुएँ
और मेंडक देखती है। बर्दा का इसमे विरक्षनीय सुकेत्र दूसरा घब्द नहीं
है। प्राइतिक नियम बदल दये, क्षतुमों ने मर्दाना राम दी, मतर इस
नम ने इसी भी बर्दा क्षतु में केवुएँ और मेंडक उपनते में कमी नहीं
ही।

मुना है रामरित्तिन पानी की अवस्था में सुखार करने वानी है। मुझे
है, इससे नमर के रामात्मक जीवन पर मंष्ट धा जायेता। विराहि-
नियों को बर्दा क्षतु का आनास नहीं होता। उनको भावनाएँ और
उभ्यास ददे रहेते और इसी दिन विस्तोट हो जायेता। तब मूरम्प भी
हो सकता है। इससे कम यहर की मुरदा के निए घब्द नम-अवस्था से
होई गिरवाड़ नहीं करना चाहिए।

नदर के भावनात्मक जीवन का इतना ध्यान घब्द बोन रखता है ?
यह जमाना यथा जब यमुना के किनारे प्राम-वादत ने देति-कुञ्ज बनवा
दिये दे। घब्द पाकं भी बनवाते हैं, तो उसमें हजार वेण्ठिन पावर का
आत्म समा देते हैं। ऐरे यहर की हासत फिर भी घब्दी है। सारे यहर
मो सरेटता, जो यह धोमती नाला बहता है, उसमें बरसात में धनी कुर्ज
जाती हैं। प्रासुदास को राधादों की सहेनिया उन्हें बबरठी है—

अकेली मत जैयो राधे श्रोमती के तीर !

राधा पूछती है—क्यों ?

सहेली कहती है—वहाँ साँप-विच्छू रेंगते हैं। तेरा कन्हैया कोई नाग नाथनेवाला नहीं है। वह साँप को देखकर 'मरे वाप रे' चिल्लाकर भाग जायेगा और तू अकेली रह जायेगी।

राधा को यमुना-टट पर अकेली न जाने की सलाह सहेनियाँ क्यों देती थीं ? क्या इसलिए कि वहाँ नाग रहता था ? या इसलिए कि वहाँ कृष्ण आता था ? या इस उद्देश्य से कि यह डरकर हमें साथ ले जायेगी और कन मे हम इसका 'स्टोण्डल' फैलायेंगी ?

यह नो कृष्णचरित पर शोध का विषय हो गया। मैं तो कमरे में बैठा हूँ और खिड़की से भासाभस वर्षा को देख रहा हूँ। यह कमरा नहीं है, किसी कक्ष-शाला का नपना-घट है। मैं यहीं बैठे-बैठे बता सकता हूँ कि आज कितना पानी गिरा। ग्राधा इंच तक एक कोना टपकता है, एक इंच पर दूसरा, डेढ़ इंच पर तीसरा और जब चारों कोने टपकने लगें तब समझता चाहिए कि दो इंच पानी गिर चुका। इससे ऊपर के पानी की नाप भी बीच के टपकों से ठीक-ठीक हो जाती है। सीमेण्ट चुपड़वाते हैं, छामर भरवाते हैं, मगर पानी रुकता नहीं। अब यह स्थिति है कि मकान मालिक और मैं, दोनों मकान को रोते हैं और यह तय करना मुश्किल हो जाता है कि मकान मेरा है या उनका। बरसात में जब मकान मालिक से मेरी भेंट होती है, तब मुझे लगता है, जैसे मकान मेरा है और ये मुझ से शिकायत कर रहे हैं। मैं अपराधी अनुभव करने लगता हूँ।

पर अभी उस दिन मामला हमेशा के निए खत्म हो गया। मकान मालिक ने बताया कि विछुने कुछ बर्फी में बनी सारी सरकारी इमारतें 'लीक' करती हैं। उसकी जांच करने के निए सरकार ने विशेषज्ञ बैठाये थे। विशेषज्ञों ने रिपोर्ट में कहा है कि इस जगह की मिट्टी खराब है।

मुझे हैरानी है, इधर कुछ सालों में ही शहर की 'मिट्टी' कैसे खराब हो गयी ! पहले की इमारतें अच्छी हैं।

मिट्टी खराब तो नस्तर है। पर कौन-सी मिट्टी ? वह मिट्टी खराब हूँई है, जिससे मकान बनते हैं या वह जिसमें ग्रादमी बनते लगे हैं ?

प्रादमी ही तो मरान बनाते और बनवाते हैं।

विशेषज्ञ की बात में जोई दग्धन नहीं दे सकता। हमने घण्टी छिन्हनी ही विशेषज्ञ को सौंदर रखी है। विशेषज्ञ पुत बनवा देता है और रेमाराई हमें लेकर गिर पड़ती है। बरसात के पहले विशेषज्ञ इमारत पान करता है और बरसात के बाद उसका मलबा उठाने के लिए टेन्डर मेंगता है। घण्टान में जाकर हम घरने को विशेषज्ञ दो सौंदर देते हैं और किर घण्टने दारीर पर घण्टना हक मही रहता। राजनीति के विशेषज्ञों के हाथ गारी दुनिया ने परने प्राण सौंदर दिये हैं और वे इसी भी दिन सार के प्राल सहृदय में नेंग। विशेषज्ञ के सामने किसी भी सतती है। विशेषज्ञ ने वह दिया है, तो इन टपकों को मैं चुपचाप भुगतता हूँ।

बाहर जाना है पर भीगने के दर से छिपा बैठा हूँ। भीगने में भी आनन्द होता होगा, तभी बड़े-बड़े सन्त अच्छों की तरह मैदान में तड़े हो जाते थे। कबीर का दोहा है न—

गरन गरन बरसे धमी बादर गहर गंभीर।

चट्ठे दिलि दमर्हे दामनी भीजं दास कबीर॥

यह कबीरदाम का दोहा है या उनके इसी विरोधी का? इसी विरोधी ने शायद सिर दिना हो, यह बनाने के लिए कि यह कबीरदाम जो संत कहताता है, कंसा पाना है। बादल गरज रहे हैं, धैर्या छाया है, गहरे बादल है, विजली घमक रही है और यह कबीर बुटिया के बाहर राहा भीग रहा है। प्रेविटफल—व्यावहारिक प्रादमी भी नज़र में यह मरती पागलपन और देवकुपी तो होयी ही।

अगर यह सही है कि कबीरदाम जान-बुझकर भीग रहे थे, तो एक बात निश्चित है—उनके पर मेरे एक-दो जोड़ी गुणे वर्पदे होंगे। हो भी सकते हैं, के युद कपड़ा चुनते थे। उन परन महंगाई सानी थी, मुनाफापोरी।

मुझे भीगते दर सगता है। मैं लिटफोन में दूमरों को भीगता देन रहा हूँ और उन्हें पाणी भी समझ रहा हूँ। बरसात में बुछ भीजे याद प्राती हैं। एक हो यह कि इसी दर ने देप के हारा श्रितपा को सन्देश भिजवाया था। मनुष्य जाति के इतिहास में यह समस्या रही है।

पोस्ट और टेलीग्राफ महकमा खुलने के बाद भी हल नहीं हुई। कुछ पोस्ट-मैन चिट्ठियाँ सौल लेते हैं। उर्दू काव्य से मालूम होता है कि कुछ कवियों ने किसी आदमी के हाथ सन्देशा भेजा था। पर सन्देशवाहक प्रेमी से ज्यादा ग्राकर्पंक था, इसलिए उसने प्रेमी को उखाड़कर खुद को जमा लिया। इस घटना के बाद से खूबसूरत आदमी के हाथ सन्देशा भेजना बन्द कर दिया गया।

मेघ से सन्देशा कहलवाना विलकुल निरापद है। उस यक्ष से नाराज होकर बड़े साहब ने उसका तबादला कहीं दूर कर दिया होगा। मकान नहीं मिलने के कारण वह 'फेमिली' वहीं छोड़ आया होगा। इधर जब भी पढ़ोस की लड़की को यक्ष देखता, उसे घर की याद आने लगती।

ऐसे ही किसी 'मूड' में उसने मेघ को ही दूत बना लिया। वह जानता तो होगा कि मेघ बोल नहीं सकता। पर सन्देशा दे देने का सन्तोष एक अत्यन्त चीज़ है। वह सन्देशा पहुँचता भी है या नहीं, या जिसे भेजा गया है वह उसे समझती है या नहीं—ये बातें उस क्षण व्यान में नहीं आतीं।

मैं छठी या सातवीं कक्षा का विद्यार्थी था। मेरे घर के पास एक युवा कथावाचक रहता था जो महीनों बाहर धूमता हुआ कथा कहता था। वह बाहर से अपनी नवपरिणीता पत्नी को लम्बी-लम्बी चिट्ठियाँ लिखता। पण्डितानी की शिक्षा अक्षर-ज्ञान से विशेष आगे नहीं थी, पर विरह-विद्वान् कथावाचक पत्रों में अपनी सारी प्रतिभा उड़ेल देता। वह वेचारी मुझे चुलाकर चिट्ठियाँ पढ़वाती। कथावाचक की चिट्ठी खूब भावावेश की होती थी। मैं बरामदे में खड़ा होकर ज़ोर से चिट्ठी सुनाने लगता, तो वह रोकती-धीरे पढ़ो, मैंया, धीरे। चिट्ठी में पचीसों बार आता—'प्राणाधिके ! प्राणवल्लभे' हर दो बाक्यों के बाद—प्राणाधिके, प्राणवल्लभे ! वह वेचारी समझ नहीं पाती थी। उसने मुझसे पूछा कि इनका क्या मतलब होता है। इन शब्दों का अर्थ तब मुझे भी नहीं मालूम था। छठी के विद्यार्थी की क्या विसात !

मैं अपने हिन्दी के बयोबृद्ध अध्यापक के पास गया और पूछा, "सर, प्राणाधिके और प्राणवल्लभे का क्या अर्थ होता है?" उन्होंने गुस्से से

मेरी तरफ देखा और होटा, "तुम इन फ़लतू बातों में बर्चां पहुंचे हो !"

गुरुपां जो बात मैंने कभी नहीं टानी। उन्होंने कह दिया, तो डिम्बदी भर 'इन फ़लतू बातों' में नहीं पहा।

इसी मौमाम का उपयोग राम ने घोर इष में किया। 'रामचरितमानस' में राम वर्षा-वर्णन के बहाने सदमन को नीति-बोध कराने के लिए पातुर होते हैं। होटा भाई अब मेरी एक भी नीति नहीं मुनेगा क्योंकि अशहार में पहुंचे झंझटे बैदा हो चुकी हैं। किसे सम्बोधित करूँ? एक मित्र है, जो मुनक्का गवकी है, पर करता थन की है।

मैं उनी को सम्बोधित करता हूँ।

हे हनुमान, ये बादन बैमे उमड़ रहे हैं, जैमे २० गाने, २४ नाव, दो हत्या और एक आत्महत्या बानी 'बांस-पाँफिस' किन्ब के पहुंचे जो की भीट उमड़ रही हो !

देखो, मूँय बादनों में ऐसे छिप गया जैमे नदी घोर पुगनी बहानी के दियाद के घटाटोर में घच्छा लेगक छिप गया हो।

हे हनुमान, कभी बादन जोर में गरजते हैं, जैमे गाट-गन्धी मुदासा-गोरों को घमड़ी दे रहे हों। पर यानी न बरमने में गमी घोर बड़ जानी है, जैमे गाटगन्धी की हर घमड़ी के बारे भाव घोर बड़ जाने हैं।

देखो, घपकार में कभी-कभी विश्वी चमक उठती है, जैमे इसी रही वर्दिता में एक घच्छी पक्षि आ गयी हो।

मुनो, मेंढर कंभा शोर कर रहे हैं, जैमे जीने हुए उम्मीदवार का जुनून निकल रहा है।

हे भाई, हवा के भोके में ये बृत इम तरह भुज-भुक पहते हैं, जैमे मेंकेन्द्री की लड़की की शादी में परस्पर सोग भुज-भुरहर बारातियों को पान दे रहे हों।

हे बन्धु, मटक दर मोटर गाहीरों के बाहों पर छीटे उछालनी जा रही है, जैमे किमी 'दीने' पत्र बा तामा पत्र दिव रहा हो।

हे बन्धु, इम बटे पेह के ठूँड़ पर किर एक हरी कुन्जो खूट पायी है, जैमे मसद के चुनाव बा हारा, म्मुनिमिरम चुनाव में गदा हो गया हो।

हवा बा भोका आदा घोर एक शोडार गिरवी गे मूँझ तक आ

गयी। वर्षा मुझे अपनी लपेट में ले रही है। ऐसे ही एक बार जब मैं फुट-वाल का सेल देख रहा था, तब गेंद उछलकर मेरे सिर पर लगी थी और मैं सेल में शामिल कर लिया गया था। तटस्थ इसी तरह कभी-कभी लड़ाई में स्कीच लिये जाते हैं। सिर्फ तटस्थ होने से बचाव नहीं होता, खिड़की भी बन्द करनी चाहिए। मैंने खिड़की बन्द कर ली है। बाहर खूब पानी बरस रहा है, मगर मैं वर्षा से अद्यूता हूँ। मैं उसे देख भी नहीं रहा हूँ। सिर्फ ये टपके वर्षा का बोध कराते हैं, जैसे अखबार में शीतलुद्ध की खबरें पढ़ रहे हों।

नीलकंठ

कहते हैं, दांकर ने जहर पी निया था। जिस हजाहस की उशाना से चराचर सृष्टि घटुला उठी, उसे दांकर सहज ही पी गये। बड़ा स्वेच्छा किया, बहुँ बहादुरी की। पर एक प्रदन उठता है मेरे मन में कि कंठ को नीता ख्यों होने दिया ? जो इतने अत्योक्ति राष्ट्रित सम्पन्न थे, वे यदि आहुते, तो व्या कंठ का रंग हस्ते मामूल नहीं रग सकते थे ? फिर आहा ख्यों नहीं ? शायद इसनिए कि सोग कम से कम यह जान सो में कि उन्होंने जहर पिया है। भला यह भी कोई बात है कि विष भी दियें और सोगों को मालूम भी न हो ! नीता कंठ दिशाने का सोग दांकर ने संबरित नहीं हुमा। वे विष तो पचा गये, रंग नहीं पचा पाये ! रङ्ग पशाना आणान नहीं है। मुझे तो सन्देह है कि यदि कण्ठ नीता पड़ने का यशील न होता, तो शायद दाढ़ूर विष पीने में इन्कार कर देते ।

स्वेच्छा से विष पान करने में 'नीत-काळा' एक बड़ा धारार्थी है। अपनी कोशिश यह होती है कि जहर तो कम से कम पियें, पर कण्ठ अधिक से अधिक नीता हो। और कोई सो गते पर नीती ह्याही शोक कर 'नीत-काळ' बने फिरते हैं ।

एक सञ्जन स्वतन्त्रता-संशाम में भाग से चुके थे। हमारी स्वातंत्र्य सेना विजयी हुई। परम्परा है कि मुढ़ में विजेता पद विवित में सूट-मार करता है। पर हमारे इस संशाम में विजित पद तो सात समुद्र पार नहे बग बनाने सगा। उसे कौसे जाकर सूटते ? इसनिए विविठों ने एक नवी परम्परा घसायी—अपने ही पद में सूटमार करने सगे। उक्त संवेदन नहाई में पहसी करता रहे, इस नवे धूर-नम में धनितम करार में हो

गये। कुछ हाथ नहीं लगा। तब वे बैठे-बैठे घाव दिखाकर सहानुभूति अर्जित करने लगे। स्वतन्त्रता-संग्राम ने कुछ लोगों को निठलेपन के संस्कार भी दे दिये थे। वे मजे में बैठे-बैठे कष्ट मुगतने लगे। लोग कहते, 'वह बेचारा बड़ी तकलीफ उठा रहा है।' वे सुनते; बढ़े प्रसन्न होते। ऐसा आनन्द और गवं अनुभव होने लगा कि यदि कहीं कोई काम-धन्धा मिलता तो भी वे नहीं करते। स्वातंत्र्य-शूर नौकरी कैसे करे? 'विकटोरिया क्रास' वाला किसी संठ के फाटक पर पुरानी बड़ी में चौकी-दारी कैसे करे? कुछ दिनों में घाव भर गये और उन्हें देखने वाले कम हो गये। तब उन्होंने एक अच्छी नौकरी कर ली।

आत्मीय की भूत्यु पर सिर मुड़ाने के और चाहे जो कारण हों, एक यह तो है ही कि दुख स्पष्ट दिखे और उसे समाज में मान्यता मिले। सिर मुड़ाकर अजब घज बनाये, जब कोई परिचित मिल जाता है, तो इस देचारे के हृदय में चाहे उस क्षण आनन्द हिलोरे ले रहा हो, पर उसे देखकर यह एकदम मुँह गिरा लेता है। पूछता है बड़ी गम्भीरता से (गो कि वह जानता है) — "क्यों जाइ, सब कुशल तो है?" 'मैया, माताराम नहीं रहीं।' उसे अभ्यास से बेजा हुआ उच्चर मिलता है। वह मुँह और लटका सेता है।

"राम राम। मैया, बड़ा बुरा हुआ। क्या बीमारी थी?"

"क्या बताऊँ नैया! कुछ पता ही नहीं चला। बात करते-करते चल दीं।"

"राम राम! किसी अच्छी मौत पाई है, माताराम ने! बड़ी पुष्पात्मा रही!"

मेरे एक दोस्त के चाचा की भूत्यु हो गई। उनका कोई लड़का नहीं था, सब सम्पत्ति इसी भतीजे को मिलने वाली थी। इसने उनकी अर्थी ऐसी प्रसन्नता ने बांधी, जैसे अपनी ही शादी में मण्डप ताज रहा हो। ऐसे शोक में गिर घुटाया, मानो वयों की लालसा पूरी हो रही हो। शाम को वह मेरे साथ घूमने निकला। रास्ते में जो परिचित मिलता, उसी से वह उदास मुँह बनाकर कहता, "मैया, तुमने तो मुन ही लिया होगा। हम पर यच्चपात हो गया।" परिचित आगे बढ़ जाता, तो वह फिर प्रसन्न हो

जाता। पुनः कोई मिस जाता तो अद्भूत सत्परता से वह दुग पोइ मेला और कहता, 'धावने तो मुन ही निया होगा। हम पर दुग का पटाह टूट पड़ा।' हमे ८-१० परिचित मिरे; उनमें ने दिग्गी ने बच्चात और पटाह टूटने की बात नहीं मुनी थी। उन सब को मेरे दोस्त ने यह बात मुनाई।

अजब घस्ता होता है दुरा का! पोड़ा बहा दर्द देता है। पर कोई को दबाकर, छोड़कर भी तो दर्द का मजा लेते हैं। इसे 'मोठा दर्द' कहते हैं। कहते हैं दाद गुडाने का प्रानन्द, इश्यानन्द की कोटि का होना है। हम ठीक नहीं कह सकते, क्योंकि हमें कभी हूई नहीं, यद्यपि स्नान के हम बहुत ब्रायल नहीं हैं। ऐसे दर्द का घस्ता जब सग जाता है, तो धादी उत्ताप करके, पोड़ा उठाकर, उसका मजा लेता है। फिर तो दर्द व्यसन हो जाता है और इसी से प्राण-रस भी मिलने सकता है।

एक भत्ते धादमी को मैं जानता हूँ, जिन्हें दर्द का घस्ता सग गया था। एक धादमी उनसे दो सौ रुपये से गया। सास बीत गया, पर उसने इपये बापस नहीं किये। अब उन्होंने रोना शुरू किया। एक विचित्र बात देखी—रोने शुरूने के बाद उनके भूम पर बड़ी प्रमाणता, बड़ी ताजगी आ जाती। ऐहरा सिल उठता। कर्जदार ने एक दिन उनमें बहा कि हर माह पचास के हिसाब से मैं धापको खार माह में राये चुमा दूंगा। वह पचास तुरन्त देने सका। पर ये सज्जन लेने को तंगार नहीं। बहने से, 'नहीं भई, हम ऐसा नहीं करते। जैसे दो सौ मेरये थे, वैसे ही दे जाना।' वह मान गया और किर कभी नहीं आया। इसर ये भत्ते धादमी हर मिन्न के शामने दुलडा रहते। जब कोई कहता—'धापको सोग बहुत तंग करते हैं। धाप बड़ा नुकसान उठाते हैं।' तो ये बड़े प्रश्न हो जाते। मुझे बड़ी देर बाद समझ में आया कि उन्होंने इपये बदो नहीं सिए। यदि ऐ मेहते, तो रोने-शुरूने का मजा नप्ट हो जाता। दो सौ इपये उन्होंने दुग के बंद में दाम रसे थे और शुरून तथा तिकायत के रूप में जो व्याप्र मिलता, उसमें गुबर करते थे। ऐसे धादमी मुझे हठपोरी सगते हैं—काँटों पर पड़े हैं और भीड़ देस रही है।

एक बात और है। जब हम यह अनुभव करते हैं कि हम औरों ने मणिक कट्ट भोगते हैं, तब हमें गवं होता है। द्वूसरों की दृष्टि में भी हम

गोरक्षाली बनना चाहते हैं। दर्द का ताज सिर पर रखे धूमते हैं। दुख पूज्य माना गया है और दुख को पूज्य बनाने में सबसे बड़ा हाथ दुख देने वालों का है। 'दीन धन्य हैं क्योंकि वही स्वर्ग के अधिकारी होंगे' इसा ने कहा। इसा तो कहकर निपट गये, पर उनके अनुयायियों ने इसका अक्षरशः पालन किया। स्वर्ग का राज्य दीनों के लिए अलग छोड़कर, पृथ्वी का राज्य खुद भोगने लगे। पर स्वर्ग के राज्य के अधिकारी भी तो बनाना चाहिए। यही सोचकर इसा के भक्तों ने कितनी ही कीमों को, करोड़ों आदमियों को दीन बना दिया। 'फ्रूमेड' के जमाने से लेकर इस 'शीतयुद्ध' के जमाने तक स्वर्ग के अधिकारी बनाये जा रहे हैं और समय से पहले स्वर्ग भेजे जा रहे हैं।

हम नहीं जानते, यह स्वर्ग का राज्य कहाँ है। पृथ्वी पर तो वह अभी तक नहीं आया। साम्यवादी दावा करते हैं कि वे दीनों का राज्य स्थापित कर रहे हैं, पर वे तो इसा को ही नहीं मानते। इसा के भक्तों से उनकी लड़ाई है। तो क्या इसा ने अपने अनुयायियों को स्वयं शापित कर दिया? क्या अपने वचन को पूर्ण करने का कार्य उन्हें सौंपा है, जो ईश्वर के अस्तित्व को ही नहीं मानते?

कुछ नहीं कहा जा सकता। अभी तो दुख पूज्य ही है। सम्पन्नता दिखाने की जितनी तीव्र हविस होती है, उससे कहीं अधिक गरीबी दिखाने की होती है।

जो दुख की केवल जय बोलते हैं, कहते हैं कि दुख आदमी को महान बनाता है, वे सरासर घोड़ा देते हैं। दुख आदमी को 'बड़ा' भी बना सकता है और नीच भी। मन को उजला भी कर सकता है और काला भी। वे घोर निराशा से ग्रस्त होते हैं, जो दुख का हाथ जोड़कर स्वागत करते हैं—'पधारी महाराज ! हम तो कृतार्थ हो गए।' दुख तो त्याज्य है, घृणित है ! पर इसे किस कदर आसमान पर चढ़ाया गया है। कहते हैं—

गर्दिशे ऐर्याम तेरा धुक्रिया

हमने हर पहलू से दुनिया देख ली

ठीक है। दुनिया तुम्हारे सामने सुन गयी। दोस्त घोड़ा दे गये,

अपने पराये हो गये। पर तुम्हारा हान क्या हुमा? तुम्हारा तो कचूमर निकल गया। भला यह भी कोई संतोष हुमा कि हम ढूबे तो ढूरे तम्हें तो नंगा नहाते देख लिया!

दुख का ऐसा गवं मुझे बहुत गलत लगता है। या तो जहर पिदो भत, यदि पीना ही पड़े, या दूसरों के मंगल के लिए स्वेच्छा में पी तो, तो कष्ठ नीला किये भत धूमो। पर यहाँ तो मैं दुख का व्यापार कर्ना देखता हूँ। प्रकाशक से पुस्तक की रायलटी माँगने गया, तो कहता है—“मैं भी भाजकल ‘हैंड टू मार्ग’ हूँ।” अपेजी का असर नहीं पड़ा है, पर हमें खिसकाने के लिए अपेजी मुश्किले रट लिए हैं। कुछ तो पिता या माई की मृत्यु के बाद सहानुभूति के दलाल के जरिये, दुस का लम्बा-चोड़ा व्यापार बर्पों करते रहते हैं। वे स्वयं तो बाप को भूल जाते हैं, दूसरों को नहीं, भूलने देते।

एक बार हमारा भी व्यापार शुरू हो गया था। तब को बात है, जब नौकरी छोड़कर लेखन से जीविका चलाना आरम्भ किया था। लोगों ने समझाया कि यहाँ हाथी ढूब गये हैं, तुम क्या आह लोगे? पर जब छोड़ ही दी तो सहानुभूति भी प्रकट करने लगे। कुछ पेशेवर सहानुभूति-प्रदायक होते हैं। पता लगते रहते हैं कि किस पर क्या विपत्ति पड़ी है। किसी-किसी का तो चेहरा भी ऐसा होता है कि मानूम होता है, इन्हें सरकार से मातभपुर्सी के लिए वेतन मिलता है। मेरे बारे में चिन्ताएँ प्रकट की जाने लगीं—‘बड़ा दुख उठा रहा है बेचारा! अब तो शामद साने के भी साते पहने लगे। चेहरे पर कितनी परेशानी नजर आती है।’ बात उलटी थी। उन्हीं दिनों मुझे पाठ्य-पुस्तकों से दो हजार इकट्ठे मिले थे और मैं भजे में जो रहा था। पर यह भी सही है कि मेरे मुख पर कष्ठ और परेशानी के भाव रहे होगे। बात यह थी कि मैंने यह सोचकर कि अब जाने कब नया जूता प्राप्त होता है, एक नया जोड़ा पहन लिया था। यह दुरी तरह काटता था। बस यही एक दुख था। मैं जूते को छोड नहीं रहा था। जिदगी भी तो कितनों को काटता हुमा जूता ही है, पर पहने रो रहे हैं। मैं यानी पीकर जहर पीने का थेव ले रहा था। कष्ठ स्पाही से रेगा जा रहा था। मैंने शीघ्र ही दीला जूता खरीद लिया। दर्द

जाता था । और किरदायक कोई सुखदायक प्रनुभव नहीं है । समर्थ होकर भी करुणा जैसी नूत्यवान्, लोक-मंगलकारी भावना को सींचना, सरासर चोरी है, धोखा है ।

पर देख रहा हूँ कि इस जमाने में दुहरा शोषण चल रहा है—श्राद्मी की रोटी तो छीनी ही जाती है, उसके हिस्से की करुणा भी छीन ली जाती है । शंकर के नाम पर एक दक्षी ही 'नीलकण्ठ' बना फिरता है और श्रद्धालुओं की श्रद्धा-भवित लेता है । आसपास नीले कण्ठ के परिन्दे उड़ते देखता हूँ और इनकी भीड़ में वास्तव में विष-पान करने वाला वेचारा किसी कोने में दुवका खड़ा रहता है ।

राम का दुस और भेदः

बादल गरज रहे हैं और मुझे प्रियाही जी की यह अद्वितीय मान भा
रही है—

धन घमंड नभ गरजत भोरा ।

प्रियाहीन दरगत मन भोरा ॥

ये रामचरित मानस में पूरा वर्षा-प्रयंग भीषण-विद्वाण का एक अनुवान है। राम लक्ष्मण को बाढ़ पर आई दूढ़ गदी दिलाते हैं और कहते हैं कि इसी प्रकार खल थोड़े धन में ही योरा भाता है। राम विद्वाण की नीति और धर्म में बहलाए रहते हैं, अपने मन में तनिक भी गाँठे नहीं होते। केवल यही उनकी सावधानी दीमी हुई है, जब तो वह उर्ध्वा है कि यारी और मेघ घमंड से गरज रहे हैं और मैं प्रियाहीन हूँ मौ मैरा गाम भाना है।

इस अद्वितीय का क्या अर्थ है? क्षीर देवदर ग्रामाचारी इसके दूष और निकालेंगे पर उनमें वह हरणिक नहीं होता, जो गृहर्णीताम या आर्द्धत्रिप्त है। एक-एक घोषाई के जब ये कई अर्थ निष्ठापने हैं, जो हीरे मन में छाता है कि इनमें कहूँ कि भाई, लियही बात के एक महान अविकाश अर्थ है ताकि यह मंत नहीं होता, नुच्छा आदर्मी होता है। हीरे की बात हीरा हीरा भाई होती है, योर डगका एक ही अर्थ निष्ठापना है। गृह गृहर्णीताम कई अर्थ निकालकर वरों अनुदं बांद हों तो इर्दे द्वारा विद्वान् अनुदं अर्थ दहूँ है—‘प्रिया हीर’ का अनुदं दो हीरों—५२३। अनुदं, अनुदं बहुत है कहिं है यद्यपि वास्तव अनुदं है योर डग, अनुदं द्वारा है। यह अनुदं है कहिं प्रिया हो इर द्वारा द्वारा है। एक अनुदं अनुदं कहदा है कहिं प्रिया हो इर द्वारा द्वारा है। एक अनुदं अनुदं कहदा है कहिं प्रिया हो इर द्वारा द्वारा है। एक अनुदं अनुदं कहदा है कहिं प्रिया हो इर द्वारा द्वारा है।

कैसे होगा ? सीता दूर है, तो राम का मन डरता क्यों है ? क्या इसलिए कि न जाने सीता इस वरसात में कहाँ है ? या इसलिए कि प्रिया के विछोह से मन कमज़ोर हो गया ? प्रिया पास होने से क्या पुरुष अधिक निडर होता है ? लेकिन मेरा पड़ीसी बाबू तो उल्टी बात कहता है—भैया, अपन तो बाल-बच्चे वाले आदमी हैं, डरकर चलते हैं, सब की सुन लेते हैं ।

राम की बात राम जानें । बादलों की गर्जन से डरता मैं भी हूँ, पर इस डर का कारण जानता हूँ और बता भी सकता हूँ । नहीं, राम बाला कारण नहीं है । मेरे डर का कारण कोई हरण की गई प्रिया नहीं है, यह मकान है, जिसकी छाया तले बैठा हूँ । राम इस भय को नहीं जानते थे । वे किसी किराये के मकान में चतुर्मास फाटते तो भाई को ऐसी बातें थोड़े ही सिखाते कि हे लक्ष्मण, पर्वत वृद्धों के आधात को ऐसे सह रहे हैं, जैसे संतजन दुष्टों के बचन सहते हैं । वे कहते हैं कि हे लक्ष्मण ! मेरे ठीक सिरहाने एक बड़ा टपका है; मुझे रात को नींद नहीं आई । आज ठीक कराना । और लक्ष्मण 'जो आज्ञा' कहकर मकान वाले से शिकायत करने चल देते । पर्वत चाहे वृद्धों का आधात कितना ही सहें, लक्ष्मण वर्दाश्त नहीं करते । वे बाण मारकर बादलों को भगा देते या मकान मालिक का ही शिरच्छेद कर देते ।

हमसे न बादल डरता है, न मकान मालिक । और हम एक कोने में दुबके बैठे छन से प्रगट होने वाली जलधाराओं को देखते रहते हैं । गालिव का मकान भी मेरे ही जैसा रहा होगा । तभी एक चिट्ठी में लिखा है 'आसमां एक घंटा वरसे तो घर दिन भर ।' कवि रहीम इस कप्ट को कष्ट ही नहीं मानते, बल्कि बड़ा वरदान मानते हैं—

टूट खाट घर टपकत, टटियाँ टूट ।

पिय की बांह उसिसवा, रुख के लूट ॥

रहीम की बात मैं समझता हूँ । सारी महत्ता उन खास किस्म के तकिये की है । उससे सामने टूटी खाट, टपकते घर और टूटी टटिया की नहीं चल पाती । पर रुई के तकिये से यह चमत्कार कैसे पैदा होगा ? इस बात को आगे बढ़ाना अच्छा नहीं ।

पत्रकारों ने लाखों की भीड़ जमा कर दी। वहाँ हैजा हो गया और कई श्रद्धानु वहीं अंध-विश्वास की बेदी पर बलि हो गये।

एक दिन हमने इंजीनियरिंग कालेज से इसी वर्ष डिग्री पाने वाले एक तरुण इंजीनियर को यह चमत्कार दिखाया। उसने व्यान से जांच कर कहा, "ठीक है, समझ गया। ऊपर से प्लास्टर हो ही चुका है। इसमें भीतर से सेंधों में सीमेंट और रेत भरवा दीजिए। भीतर से प्लास्टर हो जाने पर एक वर्दूद नहीं आयेगी।" मैं इस युक्ति से प्रभावित हो गया। पर मेरे भाई में व्यवहार-बुद्धि अधिक है। उसने कहा, "ऐसा करने से दीवारों में पानी घुसता जायगा और किसी दिन ऊपर दीवार खसक पड़ेगी।" इंजीनियर ने उत्तर नहीं दिया। उमेरे एक जरूरी काम याद आ गया। मैं समझ गया कि ज्यों-ज्यों देश में इंजीनियरिंग कालेज खुलते जा रहे हैं, त्यों-त्यों कच्चे पुल और तिढ़कने वाली इमारतें क्यों अधिक बनते जा रहे हैं। और जब हर जिले में इंजीनियरिंग कालेज हो जायगा, तब हम लोग कहाँ रहेंगे?

किसी ज्ञानी ने हमें एक दिन सान्त्वना दी कि इतने परेशान मत हुआ करो। ये किराये के मकान 'कर्मशिष्टल वेमिस' (व्यावसायिक आधार) पर बनवाये जाते हैं। व्यावसायिक आधार का सूत्र है—कम लागत, घटिया माल, अधिक दाम। मकान भी दो तरह के होते हैं, रहने के और किराये पर देने के। एक प्रकार के मकान से दूसरे प्रकार का काम नहीं लिया जाता-- रहने का मकान किराये पर नहीं दिया जाता, और किराये के मकान में रहा नहीं जा सकता। व्यावसायिक आधार पर तो हम रोजपिट रहे हैं। व्यावसायिक आधार वालों का वस चले तो वे हमारी नसों का गम रखत निकालकर उनमें पानी भर दें।

एक दिन एक परिचित पधारे। इनके भी दो मकान किराये पर चल रहे थे और इस तरह वे हमारे मकान मालिक की 'मोसी के लड़के' होते थे। सरे नहीं, पर सरे से अधिक याने व्यावसायिक आधार पर। उन्होंने छत को ऊपर से देखा और बोले, "इसमें प्लास्टर कराना चाहिए।" हमने कहा, "दो धार तो हो चुका।" वे हँसकर बोले, "प्लास्टर नहीं हुआ, सीमेंट पोती गयी है। मकान बाले से कहो कि मोटा प्लास्टर करवाए।" हमने

कहा, "कितना तो कहा । यहाँ तक कह दिया कि किसी दिन यह छत गिरेगा, तो हमारी जान चली जायगी ।" यह सुनकर वह दार्शनिक की तरह बोले, "अपनी जान जाने की बात कहने से काम नहीं चलेगा । यह कहो कि तुम्हारी दीवार गिर जायगी और तुम्हारा नुकसान हो जायगा । समझे ? तुम देखोगे कि फौरन चार इंच मोटा प्लास्टर हो जायगा ।" मकान की मरम्मत कोई तुम्हारी जान बचाने के लिए धोड़े ही की जायगी, दीवार बचाने के लिए की जायगी ।"

ध्यावसायिक आधार पर दीवार और मनुष्य के तुलनात्मक मूल्य के सूत्र की हमने गाठ बांध ली । हमने कल जब दीवार गिरने की आशका मकान मालिक के सामने प्रकट की, तो उसने फौरन नौकर को हृवम दिया कि पानी खुलते ही अच्छा मोटा प्लास्टर कराना ।

हम अब पानी खुलने की राह देख रहे हैं । बादल गरज-गरजकर मन कौपा जाते हैं । राम प्रियाहीन थे, इसलिए डरते थे । हम गूहहीन हैं, इसलिए डरते हैं । किसका अभाव बढ़ा है ?

‘लिटरेचर ने मारा तुम्हें !’

दीवाली पर मैं लक्ष्मी-पूजन नहीं करता। न मेरे घर की दीवारों पर भइ ग्रक्षरों में ‘श्री लक्ष्मीजी सदा प्रसन्न रहें।’ लिखा है और न स्वस्तिका का चिह्न बना है। पूजा अपनी प्रवृत्ति से मेल ही नहीं खाती। किसी की पूजा करेंगे, तो या तो उसका नुकसान होगा या अपना। मेरा एक दोस्त है जिसकी प्रकृति भी ऐसी है। उसने एक प्रकाशक के लिए पाठ्य पुस्तके लिखी और उनके छपने तक प्रकाशक के वाप की मृत्यु हो गई। कई महीने बाद प्रकाशक का मैनेजर मुझे मिला, तो कहने लगा कि उनमें से एक भी पुस्तक बोर्ड में मंजूर नहीं हुई। मैंने कहा—यह बहुत शुभ हुआ। अगर उसकी एक भी पुस्तक मंजूर हो जाती, तो प्रकाशक का पूरा खानदान मर जाता। उस आदमी के सम्पर्क से हमेशा श्रद्धुभ हुआ है (वदनामी के ढर से उसका नाम नहीं बताऊँगा।)

मैंने भी १० से १७ साल की उम्र तक लक्ष्मी की पूजा की। पिताजी मुझसे पूजा कराते थे—शायद यह सोचकर कि लक्ष्मी का वच्चे के प्रति वात्सल्य उमड़ेगा और वह आ जायगी। पर वह आई नहीं। साल दर साल मैं उसकी पूजा करता गया और उधर पिताजी का धन्धा चौपट होता गया। हर साल दीपकों की संख्या और तेल की मात्रा घटने लगी। पटाखों में भी उम्र बढ़ते मेरी दिलचस्थी कम होती गई। पटाखे वचपन में ही अच्छे लगते हैं। वचपन में मैं वैसे ही शौक के साथ पटाखे फोड़ता जैसे चीन ने अभी अणु वग फोड़ा है। चीन का अभी वचपन है। प्रीढ़ होने पर पटाखे अच्छे नहीं लगते। इस अब अणु वगों से पिंड छुड़ाना चाहता है। कुछ राष्ट्रों और व्यक्तियों का वचपन कभी नहीं जाता। बूढ़े आदमियों को भी मैंने कुत्ते की पूँछ में पटाखे की लड़ी बांधकर आग लगाते

देखा है। अमेरिका भी टोकिन की साढ़ी में झण्डू-पटाखे लेकर चबकर लगा रहा है।

विषयान्तर हो रहा है न? अच्छा, लड़मी की ही बात करता हूँ। ७ वर्षाल लगातार लड़मी-पूजन का नतीजा यह निकला कि पिताजी का धंधा विल्कुल चौपट हो गया और लड़मी का यह 'भवत' मैट्रिक पास करके नीकरी ढूँढ़ने निकल पड़ा। नीकरी भी की तो स्कूल-मास्टरी। न इनकम-टेक्स की न एवससाइज की। फिर नीकरी ढौढ़कर स्वतंत्र व्यवसाय के द्वेष में आया, तो कहाँ आया? न सीमेंट में, न गले में, न हाउंडवेंग्र में। साहित्य में! भृतिभ्रष्ट आदमी और वया करेगा? लड़मी अब इस मुहल्ले में आती भी हैं, तो दूर से मेरा 'नेम्प्लेट' पढ़कर सड़क के उस बाजू हो जाती है। मुहल्ले के दो-चार घरों में बैठकर चली जाती हैं। किसी से पूछ भी लेनी है—सुना है, इस मुहल्ले में कोई एक बड़ा बैवकूफ रहता है। कुछ साहित्य-वाहित्य का बाहियात काम करता है। कोई बता देता है कि हाँ, वह उधर रहता है। वह मुँह फेरकर चली जाती हैं।

मेरा एक दोस्त कहता है—तुम्हें लिटरेचर (साहित्य) ने मारा परसाई।

मारा, विल्कुल मारा। पुस्तक लिखने वाले से पुस्तक बेचने वाला बड़ा होता है। कथा लिखने वाले से कथावाचक बड़ा होता है। सूचित निर्माता से सूचिट का लूटने वाला बड़ा होता है।

मैं कथा लिखता हूँ और वह चौराहे पर कथावाचक कथा बौचता है। वह कथा तुलसीदास ने लिखी थी। कथावाचक की भारती की याती भर जाती है; ऊपर से मेट मिलती है, सो ग्रलग। मैं, एक कथा लेखक, सड़क पर खड़ा टुकुर-टुकुर देखा करता हूँ।

उस दिन ज्ञानरंजन ने कहा—यह कथा-वाचक हिन्दी में एम० ए० है।

मैंने कहा—उसे देखो और अपने को देखो। एक वह हिन्दी का एम० ए० है और एक हम है। एम० ए० करने से उसे अबल भा गयी और अपनी अबल भारी गयी। हम लिखने के चबकर मे फँस गये और उसने 'सिँचाव' का प्रम्यास किया। वह चल निकला और हम? ८३०

कुंजी ज्यादा विकती है।

लिटरेचर ने मारा तुम्हें—गेरा वह दोस्त कहता है।

यार, पर मैं करता भी क्या? एक तो लक्ष्मी नारी-रूपिणी, फिर उल्लू पर उसकी सवारी। जिसने भी उसकी कल्पना की है, कमाल किया है। जरूर कोई सोशनिस्ट रहा होगा। जो स्त्री हो और जिसका 'गाइड' उल्लू हो वह इधर आ नहीं सकती। उल्लू कह देगा—'देवी, शगर उधर जाना है, तो कोई टैनसी कर सकिए। मैं उसके पर नहीं जाऊँगा। वह मेरी पूरी जाति से पूणा करता है।' बेचारी लौट जाती है। मुझे मालूम है, उसने कभी-कभी कुत्ताहतवश आने का मन किया है। पर उल्लू ने नहीं आने दिया। उसने अपनी 'सिस्टर' और 'क्लासफेलो' को भी इधर भेजा, पर उल्लुओं ने उन्हें भी लौटा दिया। मुझे लगता है, लक्ष्मी ऊँची हुई सी उल्लू पर बैठ जाती है और कंधती हुई फूल सूंघने लगती है। उल्लू उड़ते-उड़ते रुक जाता है, किसी के पास। कहता है—'देवी, यह मेरा साला है। इसे गुछ दे दीजिये।' लक्ष्मी अपने बैंक का चेक काटकर उसे दे देती है। (यों लक्ष्मी बैंक लिमिटेड फैल हो गया है और डाइरेक्टर लोग जैत में बन्द हैं। पर उसमें विष्णु की पत्नी के दोयर नहीं थे।) उल्लू फिर कसी के पास रुककर कहता है—'देवी, यह मेरा साढ़ा भाई है। लक्ष्मी कर उसे चेक काट देती है। इस तरह उल्लू, लक्ष्मी को चाचा, मामा, फूफा, भाई-भतीजों के पास ले जाता है और चेक दिलवा देता है।

लक्ष्मी पूछती है—'यों रे, हरिशंकर परसाई तेरा कोई नहीं है?

उल्लू कहता है—'वह मेरा दुष्मन है। उसका नाम मत लो, देवी।

लक्ष्मी की उत्पत्ति की कथा ही ऐसी है कि उसे प्राप्त करना अपने वश के बाहर की बात लगती है। लक्ष्मी समुद्र-मन्थन के बाद समुद्र से निकली थी। समुद्र-मन्थन अकेले देवताओं ने नहीं किया। उन्होंने दानवों का सहयोग लिया। देवतां अकेले समुद्र-मन्थन परके लक्ष्मी को निकाल लेते, तो मैं उन्होंनी जग घोलता। मगर 'दानवों' के सहयोग के बिना वे लक्ष्मी प्राप्त ही नहीं कर सके। तो अपनी शर्यंव्ययस्था का जो समुद्र है, उसके मन्थन के तिए मैं दानवों से समझौता करूँ, तब लक्ष्मी बाहर निकलेगी। फिर भी क्या छिनाना कि वह मुझे मिल ही जायगी। माझी देवता तो असंस्य

ये, पर लक्ष्मी उन्हें कही मिली? वह सीधे विष्णु के पास गई, मोर गले सग गई। दूसरे देवताओं ने भी कोई 'प्रोटेस्ट' नहीं किया। करते भी कैसे? विष्णु बहुत बड़े थे—शक्ति में, धन में, रूप में और चातुर्य में। स्त्री बनकर जिसने अपने दोस्त शकर को ठग लिया, उसकी चतुराई वी कोई कमी नहीं थी। लक्ष्मी सीधी 'मोनोपली' में जाकर मिल गई। ये अगर दानवों से समझौता करके अर्थव्यवस्था के समुद्र का मन्यन करें और कही लक्ष्मी कि 'मोनोपली' के पास चली गई तो? साहित्य में भी तो 'मोनोपली' है। मोनोपली छोटे को पनपने नहीं देती। एक गरीब मुनि नारद को शादी करने के लिए सुन्दर चेहरे वी ब्रह्मरत्न पड़ी थी, सो विष्णु ने उसे बंदर का चेहरा दे दिया। किंतु सुदूर जाकर स्वर्यवर में बढ़ गये और जिस लड़की पर उस बेचारे का जी आ गया था, उससे अपने गले में वरमाला ढलवा ली। कहते हैं—नारद, वह तुम्हारा मोह पा। और हुक्कर आपका?

मुझे भी सलाहें मिलती हैं—अहा, कलाकार तो खागी होता है। वह धन के लोभ में नहीं पड़ता।

मैं पूछता हूँ—'ओर हुक्कर आप?' आप पैद सकते हैं? धन का लोभ बुरा है, तो आप भी उसमें निंदा पड़ते हैं?

ये सब दूसरे को बन्दर का चेहरा लगाकर सुदूर स्वर्यवर में दैदने वाले हैं।

मेरे एक परिचित व्यापारी कहने लगे—पैसे की पैसा कमाता है। यही बाजार में एक पैसा फेंकते हैं तो वह दस साथ लेकर आता है।

मैंने यह तुस्खा आजमाया। बीच बाजार में खड़े होकर मैंने एक पैसा सहक पर फेंका। सोचता रहा कि भव यह सारे बाजार के चक्कर लगाकर अपने साथ १०-१२ पैसे लेकर सौटता ही है। किंतु मैं दस का नोट फेंकूँगा और दो-चार दिन में सारा बाजार लूट लूँगा। पर वह पैसा वहाँ से हिला ही नहीं। मैंने उसे वापिस जेव में रख लिया।

उस व्यापारी से कहा—पैसा तो मैंने भी बाजार में फेंका था, पर वह तो कुछ नहीं लाया।

उसने कहा—ऐसे नहीं होता। हमारे पैसे में 'हुक्क' लगा रहता

हैं पैसों की मछली की तरह फँसा लेता है।

अब मैं पैसों में 'हुक' कहाँ से लगवाऊँ ?
मेरा वह दोस्त कहता है—तुम्हें लिटरेचर ने मारा। सरस्वती की

तरफ गये तो लक्ष्मी ने तुम्हारी पत्ती काट दी।

आखिर इधर क्यों गया ? वैसे सच पूछा जाय तो सरस्वती ज्यादा 'कल्चड़' (मुसंरकृत) है। उसके हाथों में बीणा है, पुस्तक है। पक्षी पर ही सवारी करने का मौका प्राया, तो उसने उल्लू नहीं, हंस चुना। लक्ष्मी का सारा काम फूहड़ है। सवारी से लेकर शृंगार तक। तस्वीर में देखो—फूल पर सटी है। अरे, फूल जैसी खूबसूरत कोमल चीज़ क्या सहड़े होने के लिए है ? सौंदर्य-बोध बिलकुल नहीं है लक्ष्मी में। उसे अगर सरस्वती की बीणा मिल जाय, तो उसके तार तोड़कर उनसे उल्लू को बांधने लगे। सम्पन्न फूहड़ता की तरफ मुरुचि आखिर कैसे आकर्षित हो ?

मेरा दोस्त कहता है—नहीं होती, तो भुगतो। मारा न तुम्हें लिट-

रेचर ने।

कहने दो उसे। अभी बहुत से फँसने वकाया है। अभी क्या कहा जा

सकता है कि कौन मरा और कौन जी गया। नहीं, अब लक्ष्मी की पूजा नहीं होगी। वे और होते हैं जिनके देवता जल्दी-जल्दी बदलते हैं। वे राम

को भी प्रणाम कर लेते हैं और रावण को भी। वे दिन को हंस की चोंच

सहलाते हैं और रात को उल्लू से गपशप करते हैं।

देवता बदलना इतना आसान नहीं है। और फिर देवी बदलना तो

और मुश्किल है।

माना कि रहेंगे दिल्ली

पर सायेंगे बधा ? मैंने पूछा । जवाब मिला—साने की दिल्ली में बधा कभी है ? 'गेलाड़' में खा लेना, 'ला बोहेम' में खा लेना, 'एम्बेसी' में खा लेना ।

—और जब ऐसे जेब में कम हो तब ?

उसने मेरे कान में भूंह लगाकर एक होटल का नाम बताया, जो सस्ता है, पर जहाँ जाने में इज्जत नहीं घटती ।

—यैसे और भी कम हो तब ?

उसने गुमटियों और लोमचों की तरफ इशारा किया ।

मैं सब जगह खा चुका । दो दिन एक दोगत के साथ बट्टन मैदानों होटल में खाना खाया । खाकर निश्चले, तो ऐसा लग जैसे हम कॉर्टिजेस के सिर पर पौत्र रखकर उसे कुचलते चल रहे हैं । मगर पोढ़ी देर बाद मुझे वही दीनता का बोध हुआ । दिल्ली बाजे को ऐसा शायद न होता ही । उसे शायद ऐसा लगता ही कि जिन्दगी में इतनी सार्थकता नहीं आई । आसपास मेरे गँवार सम्पन्नता जब तभावे जड़ रही हो, तब उचटकर तभावा जड़ने को जी चाहता है । पर उसकी धरेदार यह ज्यादा सम्मान-पूर्ण लगता है कि तभावा मारने वालों की तरफ से हम भी किसी को एक चाँटा मार दें । हम धरड़ाकर डरते-डरते एक चाँटा किसी बेड़वर को मारकर सम्पन्नता की आड़ में छिप जाते हैं और इसके पहिले कि वह पलटकर हमें फिर एक चाँटा मारे हम भाग जाते हैं ।

हम मूँह छिपाकर भागे । हमारे साथ जो वही बैठे थे, वे घरनी मोटर में बैठकर 'एस्प्रेसो बार' जायेंगे, फिर गुलकंद (या गुड) ढता ।

पान खायेगे और मोटर में घर जायेगे ।

हमें पांच पैसे का पान खाकर किसी चार-सीटर स्कूटर में चार आने में घर जाना था ।

तमाचे पर तमाचा पड़ता । हम डरे हुए भागे जा रहे थे ।

दिल्ली का आदमी यह न करे, तो आत्म-हत्या कर ले । कितने ही जवान आदमियों को देखता हूँ, जो इस होटल से उस होटल जाते हैं । रेस्तरां में कौफी की-एक-कुप लेकर धंदे भर बैठते हैं । फिर दूसरे में चले जाते हैं । रात भर खुला रहने वाला रेस्तरां खोजते हैं । घर जाने में इन्हें ढर लगता है । लगातार तनाव में जीते हुए ये । ये कभी-कभी कनॉट प्लेस के सिर की कुचलते हुए न चले, तो मर जायें ॥

कह यह रहा था कि तीसरे दिन हम लोग सस्ते होटल में नये और पांचवें दिन एक गुमटी में । एक-दूसरे से छिप रहे थे । -मुझे भी छोले पसन्द आ रहे थे और उसे भी । (यह सबसे सस्ता रोटी का सङ्खी है ।) हम एकमत थे कि भिड़ी इस भौसम में खराब आती है और आज्ञा-पेट सराब कर देते हैं ।

खोमचे पर पहुँचने के पहिले मैंने दिल्ली छोड़ दी ।

मैं भियां से पूछता हूँ—दिल्ली आकर क्यों रहे ?

वे कई कारण बताते हैं । एक बन्धु कहता है—जहाँ हो, वह जगह ‘प्राविशल’ है । प्राविशल समझते हो ? वहाँ नहीं समझता इतना समझता है कि वह गाली है । जो ‘सेंट्रा-पालिस’ का नकल नवीस और पोस्टर चिपकाते वाला भी छोटे शुहरे के लेताक और चित्रकार की देता है ।

मैंने पूछा—प्रयाग प्राविशल नहीं है ?

जवाब मिला—प्रयाग प्रयाग है । वहाँ सङ्खम है; गंगा, जमना और सरस्वती मिलती हैं । सरस्वती गुप्त है, इसी का सहस्र है । अगर सरस्वती प्रगट होकर वहती, छिपकर न वहती, तो प्रयाग का भी महात्म्य न होता ।

प्रयाग की सरस्वती गुप्त गति से मैं कुछ-कुछ परिचित हूँ ।

मैंने पूछा—चिरांव भी प्राविशल है ?

वे जुप । चिरांव को प्राविशल कहते हैं देशद्रोह में भैंस जाते ।

बहाँ राष्ट्र-कवि रहते हैं न।

— और संदेश तथा मागलपुर भी प्रांविदाल हैं, जहाँ दो असिस्टेंट राष्ट्र-कवि रहते हैं ?

मैंने धमंकी दी । मेद्रोपालिंस निर्वत्तर हो गया ।

ओ रीयली ! ओ बन्डरफुल ! ! — मुझे पीछे से सुरीली आवाज मुनाई देती है।

— कल तो 'रीगल' गये थे फिल्म देखने ।

— परंसात है और फिर एक-दूसरे से दूर कहो देखने लगते हैं । वे अपनी-

अपनी बीबी से, एक-दूसरे की बीबी से और एक-दूसरे से नफरत कर रहे हैं — मगर मुस्कुराये जा रहे हैं ।

— कल तो 'रीगल' गये थे फिल्म देखने ।

— ओ रीयली ? ओ बन्डरफुल ! ! हम इस संडे को पिक्निक पर हो गये ।

— ओ रीयली ? ओ बन्डरफुल ! हमें तो भव एक भच्छा 'कुक' मिल गया है ।

— ओ रीयली ? ओ बन्डरफुल !

— ओ रीयली ?

— ओ बन्डरफुल ?

सोचा, मगर एक कहे कि हमने तो आज साना खाया था, तो दूसरी कहेगी — ओ रीयली ? ओ बन्डरफुल !

— और दूसरी कहे कि हमने तो आज दो पांव का आदमी देखा, तो पहली कहेगी — ओ रीयली ? ओ बन्डरफुल !

— आटी को टाटा करो पृष्ठ ।

— आटी, टाटा !

दिल्ली रोज़धानी है — डिप्लोमेसी; कूटनीति की जगह । जिन्दगी के रगो-रेशे में यह डिप्लोमेसी घुस गई है । पालम हवाई घड़ पर भूटों स्वर्णसिंह के सीधितकर हसते हुए गते मिटते हैं, मगर दोनों एक-

फेमिली है ?

क्यों पूछते हैं ? डरते हैं, बेचारे । उनकी भी जवान सहकियाँ होती हैं । कहीं कुछ हो जाये तो ? मालिकों में प्राप्ति में 'मामले' हो जाये, तो कोई बात नहीं, पर किरायेदार से तो नहीं होना चाहिए । मगर शादी-धुदा भादमी की क्या गारन्टी ? वह एक बार तो संयम टूटने का सबूत दे ही चुका है । तभी तो शादी की । क्या निश्चित कि बार-बार उसका संयम नहीं टूटेगा ?

तर्क को कोई नहीं मानता । गलतफहमी का जमाना है । फेमिली न होने के कारण बेचारा नहुए स्वर्ग से निकाल दिया गया था । मेरा राजधानी में क्या ठिकाना होगा ?

भकान मालिक पूछेगा —फेमिली है ?

मैं यह तो कह नहीं सकूँगा कि आप चाहेगे, तो यही 'फेमिली' हो जायगी ।

अगर खाने और रहने की समस्या हल हो जायें, तो भी और कठिनाइयाँ हैं । दिल्ली के ट्राफिक में मैं बहुत डरता हूँ । बम्बई की तुतना में दिल्ली का ट्राफिक बहुत कम है, पर बम्बई में मुझे कम ढर लगता है । बम्बई में अनुशासन है । वहाँ चोरी भी अनुशासन से होती है, स्मरणिय भी अनुशासन से । दिल्ली में ऐसा नहीं है । यही जाट का दुस्साहस और ऊबड़-साबड़पन है । हर बार जब सवारी में बैठता हूँ, तो लगता है, मोत की बराबरी से भाग रहा हूँ । बम्बई में जब डरते हुए सड़क पार करता, तो छाँ भारती ने कहा कि पहिले मैं भी डरता था । एक दिन (शायद) गण-पर गाड़िगिल ने मुझे कहा कि बम्बई के ट्राफिक से बिलकुल मत डरो । एक बार गाँव की एक अधी बुढ़िया दिन-भर सड़कों पर धूमती रही, पर उसे खोज लक नहीं लगी । बस, आँखें बन्द करके अपने को सड़क पर ढात दो ।

मेरी हिम्मत बढ़ी । पर यह प्रयोग दिल्ली में नहीं किया जा सकता । यहीं की मोटरें इतनी सधी मुझे नहीं लगती । यहीं तो मैं नार्थ एवेन्यू चलने के लिए कहता हूँ, तो वह साउथ एवेन्यू धूमाकर ले जाती है । मैंने सोचा, साउथ एवेन्यू कहूँगा, तो यह ज़हर नार्थ एवेन्यू धूमाएगी । मुझे

नार्थ एवेन्यू जाना था। मैंने कहा—साउथ एवेन्यू ! टैक्सी जर्वे नार्थ एवेन्यू पहुँची; तब मैंने कहा—रोको ! टैक्सी रुक गयी। उसने पूछा— क्या बात है साहब ?

— मैंने कहा—पेशावर करना है।

मैं उतर गया और भीटर देखकर मैंने दिये । वह बोला—आपको साउथ एवेन्यू जाना धा न ! कुछ समझ में नहीं आया ।

मैंने कहा—मुझे आ गया ।

अपना शहर भी कोई दुरा नहीं है। अब तो भृषाहूर भी हो गया है। सन् ६२ के दंगे के बाद अंतर्राष्ट्रीय दस्तावेजों में इसका उल्लेख होता है। राष्ट्र संघ में, जहाँ मास्को और वार्षिकटन के नाम ही अक्सर लिए जाते हैं, मेरे इस शहर का भी नाम लिया जा चुका है। समकालीन एशिया पर हर पुस्तक में इस शहर का उल्लेख मिलता है। ताकतवर शहर है।

मैं यहाँ सबको जानता हूँ और सब मुझे जानते हैं। दिन-भर, मैं हजार बार 'नमस्कार' होती है।

फिर अपने शहर से शिकायत किसे नहीं होती। शान्ति भी कंलकत्ता गये थे, तो स्थानीय प्रतिभाओं ने उन्हें तंग किया था। मीडियाकरों की यही साहित्य-सेवा है। तब उन्हें दिल्ली की याद आई थी। उभी स्थान आया कि दिल्ली बालों का सलूक भी तो कोई अच्छा नहीं था।

हो जाता है, कभी कुछ। कभी दो-चार लोग कोई लेख लेकर कॉलेक्टर के पास पहुँच जाते हैं कि इसे गिरफ्तार करो, बरना शांति-भङ्ग हो जायगी। लेख से शांति तो उन दो-चार की ही भङ्ग होती है, पर वे उसे शहर की शांति-भङ्ग समझते हैं। कुछ लोग अपने जूँको पूरा शहर ही नहीं, पूरी दुनिया ही समझे बैठे रहते हैं।

पर सबसे बड़ी चोट मुझे एक होटल मालिक ने दी थी। इधर सड़कों पर मैं लोकप्रिय लेखक के गवं में फूला-फूला फिरता था। एक दिन मिश्रों ने कहा, चलो, इस नये होटल में चाय पियें। होटल में घुसे तो मालिक ने मुस्कराहृद से स्वागत किया। मैं उसके पहिले बाले छोटे होटल में २-के भरीने साना सा चुका था। मेरे एक मिश्र भी उसके परिचित थे। मिश्र ने उससे पूछा— प्राप इन्हें जानते हैं ?

उसने कहा—ही साहब, जानता हूँ।

मैं फूल उठा। कौन ऐसा है, जो मुझे न जाने? उसे शहर से निकलवा

दूँ।

मित्र ने कहा—भच्छा बताइये, कौन हैं ये।

मैं खुशी से फूटा पड़ता था कि यह कहता ही है कि वाह साहब, इन्हें न जानूँ, तो विकार है। ये इतने बड़े लेखक—

तभी होटल मालिक ने कहा—ये जी हमारे प्राहक रहे हैं।

मेरा पानी उत्तर गया। यह मुझे इतना ही जानता है कि मैं इसका प्राहक था।

मैंने उसी रात शहर से छोड़ दीर्घी को फैसला किया था, पर छोड़ नहीं सका।

मैं दिल्ली खीचती जुहर है। पुराने जमाने में भाक्षणकोरियों की खीचती रही है। अभी भी जो दिल्ली है, उसे जीतने के इरादे से ही जाता है। पर दिल्ली उसे जीतकर एक किंग में डाल देती है।

मैं दोस्तों से कहता हूँ—ज़म्मा यारो, कुछ दिन दिल्ली में रहकर देखूँगा त नहीं ज़म्मा तो भीट जाऊँगा।

मित्र ने कहा—पर, दिल्ली क्योंकर कोई नहीं लटिता।

मैं सोचने लगता हूँ—ज़से मुर्खित थोड़े।

कहावतों का चक्कर

जब मैं हाई स्कूल में पढ़ता था, तब हमारे अंग्रेजी के शिक्षक को कहावतें और सुभाषित रटवाने की बड़ी धुन थी। सैकड़ों अंग्रेजी कहावतें उन्होंने हमें रटवाईं और उनका विश्वास था कि यदि हमने नीति-वाक्य रट लिये, तो हमारी जिदगी जल्हर सुधर जायगी। हमारी जिदगी सुधरी या बिगड़ी, इसका निर्णय करने का समय अभी नहीं आया, पर हमारे कहावत-प्रेमी शिक्षक 'आनेस्टी इज द वेस्ट पालिसी' रटवाते-रटवाते एक बार नड़कों की फीस खा गये और बरखास्त कर दिये गये।

उनके रटाये उन सैकड़ों सुभाषितों, कहावतों और नीति-वाक्यों में से कई के बारे में तब से अभी तक कई शंकाएँ उठती रही हैं। एक कहावत है 'नुक विफोर यू लीप' याने कूदने के पहले देख लो। मैं तभी सोचता था कि जो कूदने के पहले देख लेगा, वह क्या खाक कूदेगा? उसकी हिम्मत भी होगी? जिसे कूदना है, उसे बिना देखे ही कूद जाना चाहिये—'लीप विफोर यू लुक!' एक और कहावत रटाई थी—'ए मैन इज नोन वाई द कंपनी ही कीप्स।' कहावत ठीक है। पर पीछे हमने कई आदमी ऐसे देखे जिनकी पत्नियाँ प्रनेक उल्लेखनीय और गोपनीय कारणों से चर्चा का विषय बन जाती हैं। एक ऐसे जोड़े को नजदीक से जानते थे। पत्नी कितनी ही समितियों में जाती, भाषण देती और खूब नाम कमाती। पति महाशय को पहिले कोई नहीं जानता था, पर अब तो सभी जानने लगे—'फनां देवी के पति यही हैं।' तब हमें लगा कि ज्यादा ठीक कहावत यों होगी—'ए मैन इज नोन वाई द वाइफ ही कीप्स।' एक और कहावत-रटी थी—'ब्लैड इज धिकर दैन बाटर।' पिछले साल की बात है। एक

सउजन बड़े पूर्ण-कंठ (फुल घोटेंद) मावसंवादी थे। होटलों में बैठकर मुवक्कों की दृग्दात्मक भौतिकवाद समझते थे। एक चुनाव में उनके बड़े भाई जनसंघ की ओर से चुनाव के लिए सड़े हुए। हमारे मावसंवादी भाई का प्रचार करने लगे। लोग हंरत में। कहते, 'बड़ा आश्चर्य है ! यह तो मावसंवादी था ।' हम समझ गये, 'बल्ड इज यिकर दंत मराविंजम !'

एक सुभाषित त्रिसने अभी तक परेशान किया, वह है— 'नव दादे नेदर'—अपने पढ़ोसी को प्यार करो। अच्छी बात है। करेंगे ! पर क्यों ? हर पढ़ोसी को प्यार क्यों करें ? यह हमारा पढ़ोसी हमारे हार के सामने कचरा फेंकता है, उसे तो हम प्यार करें। और हम से चौदे मकान में तहसीलदार का मुंशी रहता है। गँड आदमी है, उसे प्यार करें नहीं करें ? ऐसे ही प्रश्न तब मेरे बाल-मन .. उठते थे। परेशान या, कि धारियर इस सुभाषित का प्रयोजन क्या है ? मेरे पढ़ोस में मेरा चहपाठी प्रकाशचन्द्र रहता था। वह गणित में बहुत होशियार था और मैं गणित में बहुत दुदू, क्योंकि मुझे तो लेखक के व्यंग्यत्व के संस्कार ढानते थे। प्रकाश मुझे गणित के पर्चे में नकल कराता था। मुझे यह समझ में आया कि सुभाषित मेरे पढ़ोसी को प्यार करने की सताह इसलिए दी गई है कि यदि पढ़ोसी गणित में होशियार हुआ और तुम कमज़ोर हुए तो वह तुम्हें नकल करायेगा।

फिर एक दिन अचानक यह सुभाषित मेरी नजर से गिर गया। उस दिन मुना कि गणेश बाबू पिट गये। बड़ों की बातों से जाना कि वे पढ़ोस में रहने वाली एक स्त्री से प्यार करने लगे थे। आज दोपहर में वे उसकी हयेती घण्ने हाथ में लेकर उसका भाग्य ४३ रहे थे कि इतने में उनका ही भाग्य-निर्णय हो गया। उसके भाई ने देख लिया, बाप को पुकारा और बाप-देटे ने गणेश बाबू की पीटा।

बेचारे गणेश बाबू ने इस महान् सुभाषित के अनुसार ही बाप किया था। 'नेदर' का अर्थ पढ़ोसी भी हीता है और पढ़ोसिन भी। गणेश बाबू ने 'नेदर' को प्यार किया। क्या गुनाह किया ? फिर पिटे क्यों ? सोचा, यह सुभाषित ही झूठा है। वहना मह चाहिए कि पढ़ोसी को चाहे

रे 'पड़ोसिन' से प्यार मनेकरो; नहीं तो किसी दिन उसके बैंग-
महारी मरम्मत कर देंगे। पता नहीं, किसने 'पड़ोसी' को प्यार
का यह सुभाषित गणेश बाबू जैसे भोले आदर्मियों को मुसावत में
के लिए बना दिया। टाइम इंजिनियरिंग विश्वविद्यालय
सुभाषित का सच्चा प्रयोजन तब भी भी मेरी समझ में नहीं आया था।
देश, काल सापेक्ष तो होता ही है, अवस्था सापेक्ष भी होता है। मेरी
स्था ज्यों-ज्यों बढ़ने लगी, त्यों-त्यों सत्य के नवीन नवीन स्तर उभरने
कर्या में एक कहावत और भूठी पड़ी। कहा है— 'टाइम इंजिनियरिंग'
इसलिए समय खूब था, काटे नहीं कटता था। पूरा 'मनी' धीरे-धीरे कम
होता गया और आखिर हमारा निजी मकान विकासी श्रीरहम किरणे
के मकान में प्राप्ति। पिताजी का टाइम 'मनी' बना ही नहीं, 'मनी' का
दुश्मन ही बन गया। हमारे पड़ोस के एक तरुणी रहती थी— 'सुन्दरी' थी
और ध्यान देने वाली थी। स्त्रियों दो प्रकार की होती है— ध्यान देने
वाली और न ध्यान देने वाली। अगर आप किसी परीक्षा की तयारी कर
हैं, तो नतीजा इस बोत पर निर्भर है कि आपके पड़ोस में ध्यान देने
दर्शन, अर्थशास्त्र सब उसे समर्पित कर दिये श्रीरजब फेल हुआ, तब होश
आया कि मैं कहावत के चक्कर में आ गया। पर कहावत को क्या दोष?
अगर 'नेवर' सुन्दर है, तो विना कहावत जाने भी उससे प्यार करना ही
होगा। तो क्या यह सुभाषित कुरुपात्रों के लिए प्रेमी की व्यवस्था करने
के प्रयोजन से बनाया गया है?

मैंने कहा था कि अवस्था ज्यों-ज्यों बढ़ी, त्यों-त्यों सत्य के नये स्तर
खुलने लगे और 'पड़ोसी' को 'प्यार करो' में मुझे नये-नये प्रयोजन दिखने
लगे।

लगभग दो साले पहले मैंने फिर मकान बदला। वही प्राने के दूसरे
ही दिन मैं घरामदे में बैठा सुंवह का अखियार देख रहा था कि इतने

बड़ी चौड़ी मुस्कान धारण किये पढ़ीसी आये । बोले—“नमस्कार ! आ गये ! बड़ा भाग्य है हमारा, जो आपके पढ़ीस का सौमांग्य प्राप्त हुआ । कहा है—

एक घड़ी आधी घंडी, आधी मे पुनि आधी ।

तुलसी संगत साथु की, हरे कोटि भपराय ॥

मैं सोचने लगा कि साथु कौन है—मैं या वे । मैंने एक-दो नम्रता-सूचक भाक्य कहे । फिर मौन । तब मैंने कहा कि भाज मौसम अच्छा है, कल खराब था, शायद कल और अच्छा रहे । फिर मौन ! तब मैंने कहा कि यद्यपि मकान मे कुछ भ्रमिधाएँ हैं, फिर भी सुविधाएँ हैं । सामने मंदान नहीं है, पर मंदान भी किस काम का ? खिड़कियाँ, कम हैं, पर ज्यादा सिढ़कियाँ होना भी ठीक नहीं ! वे ‘जो हौं’ कहकर सहमति बरताते गये । फिर हम मौन ! इस बार मौन तोड़ा । बोले, “भोर क्या समाचार है ?”

“सब ठीक है-” मैंने कहा ।

वे मखबार को घोर देखते हुए बोले, “बीटो तो हो गया ।”

मैं मकान और मौसम की बात से एकदम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर कूद पड़ने को तैयार नहीं था । पूछा, “कौसा बीटो ?”

वे बोले, “गुरका परियद मे काश्मीर सम्बन्धी प्रस्ताव को रूस ने बीटो कर दिया ने ।”

मैंने कहा, “हाँ-हाँ, कल के मखबार मे पढ़ा था ।”

वे बोले, “हाँ, ‘टिटेल्स’ भाज के मखबार मे होंगे । यह भाज ही का मखबार है न ? देख जरा ।” मेरे हाथ से उन्होंने मखबार ले लिया और बोले, “अच्छा, आप ‘फ्री प्रेस’ लेते हैं । ‘इट इज ए ग्रेट पेपर’ । मैं पहिले इसी को लेता था ।” उन्होंने उसे जरा देर उलटा-पलटा और सहसा उठकर खड़े हो गये । बोले, “आभी घंटे भर मे लौटा दूँगा ।” और मखबार लेकर चल दिये ।

वे रोज सबेरे फरिदते की तरह मुस्कुराते हुए आवे भोर नमस्कार करके पिछले दिन के समाचार का कोई प्रसंग उठा देते—

“भोर क्या समाचार है ?”

"सब ठीक है ।"

"मोहम्मद अली तो हटा दिये गये ।"

"हाँ, कल पढ़ा तो था ।"

"अब क्या हो रहा है, पाकिस्तान में? आज के अखबार में होगा शायद। ये आज ही का है न! अभी धंटे-भर में लीटाता हूँ।"

कभी कहते—

"टीटो तो आ गये ।"

"हाँ, परसों दिल्ली पहुँचे ।"

"पंछित जो से बातें हो रही होंगी। आज तो अखबार में आया होगा। देखूँ जरा। अभी धंटे-भर में भेजता हूँ।"

बीच में मैंने 'फ्री प्रेस' बन्द करके 'अमृत बाजार पत्रिका' लेना शुरू कर दिया। उन्होंने देखा तो बोले, "ओरे, आप 'पत्रिका' लेने लगे। वाह! इट इत्त ए ग्रेट पेपर! मैं पहिले इसी को लेता था।"

वे मुझे वेहद प्यार करते थे। सबेरे मुस्काते हुए आते, प्रेम से मेरा हाल-चाल पूछते, दो घड़ी बैठते! वे धीरे-धीरे मेरी झंझटें कम करते गये। अब वे अखबार वाले को रोककर पहिले ही अखबार ले लेते और पढ़कर फिर मेरे पास लाते और बतला देते कि क्या-क्या खास बात पढ़ने सायक है। इस तरह व्यर्थ का बहुत-सा पढ़ने से मुझे बचा लिते। कभी-कभी उनके बच्चे भी अपने ढांग से अखबार पढ़ डालते; तब वे मेरे पास आकर कहते, "साले बच्चों ने अखबार फाढ़ डाला। मेरी तो नाक में दम है। सौर, कोई खास बात नहीं थी। मुख्य समाचार ये ये—।" वे समाचार सुना जाते। इस तरह मुझे पढ़ने का परिधम नहीं करना पड़ता। फिर वे शाम को भ्रष्टबार दुबारा बुलाने लगे। फिर यह सोच कर कि पुराने बेकार अखबार को वापिस करके मेरे छोटे कमरे में कचरा क्यों जमा करूँ, वे अखबार अपने ही घर रखते जाते। जब काफी अखबार जमा हो जाते, तो वे बेचारे खुद कवाढ़ी को बेच देते और यह सोचकर कि मुझ साथु को माया में फैसाना ठीक नहीं, पैसा भी खुद ही रख लेते।

मैं दो साल उनका पढ़ोसी रहा। इस अवधि में मेरे सामने उस सुनापित 'लव दाइ नेचर' का एक और नया प्रयोजन खुला—पटोसी को

प्रतवार माँगकर रोज पढ़ना और उसकी रद्दी बेच लेना कोई गलत काम नहीं है। यह प्रेम प्रगट करने का तरीका है। अब अगर कोई कहता है कि उसका पढ़ौसी उससे प्यार करता है, तो मैं एकदम समझ जाता हूँ कि वह रोज इसका अखवार पढ़ता होगा।

क्षयकी रूमानियत

मेरे एक मित्र को क्षय रोग हो गया है। एक फेफड़े पर जरा-सा दाग है, जो दोन्हीन महीनों में विलकुल निकल जायगा। चिन्ता को बात कर्तई नहीं। मरेंगे तो उनके दुश्मन। उनका तो बाल बाका नहीं होगा। इसी विश्वास के कारण (और यह बड़ा स्वस्थ विश्वास है) में उन्हें देखने जाता है, तो हँसी-मजाक करता है। वहाँ बैठे सहानुभूति-प्रदर्शक लटके मुँह, लोगों को मेरा ऐसा व्यवहार अच्छा नहीं लगता और वे मुझे रोगी का शुभाचितक शायद नहीं समझते। वे व्यवहार-बुशल आदमी हैं और जानते हैं कि जान को खतरा जिस मात्रा में माना जायगा, उसी मात्रा में सहानुभूति का मूल्य होगा। किस भीके पर कैसा मुँह बना लेना और कैसे स्वर में, कैसे वचन बोलना, यह उन्हें अन्यास से सिद्ध हो गया था और इस क्षण जिस कुशलता में वे मातमपुर्सी करेंगे, उसी कुशलता से दूसरे क्षण पुत्र-जन्म की बधाई देंगे। उन्हें रोगी के पास बैठे देखवार ऐसा लगता था कि ५-१० मिनट का मेहमान है।

एक दिन एकांत पाकर मैंने मित्र से कहा—‘तुम्हें कुछ नहीं होगा। फेफड़े को जरा स्पर्श ही हुआ है। अगर दोनों फेफड़े खराब हो जायें, तो भी आजकल रोगी अच्छा हो जाता है। क्षय आजकल बुखार की तरह ही सहज हो गया है—वशर्ते रोगी खर्च वरदादत कर सके, जो तुम मजे में कर सकते हो। तुम दो महीने यहाँ विस्तर पर घडे-घडे आनन्द से रेडियो में लता मंगेशकर और तलत महमूद को सुनो, चंगे हो जाओगे। ये लोग, जो तुम्हारे सामने मुँह लटकाए बैठते हैं, भूठे और अनजान हैं। एक तो वे कर्तव्य के न ते चितित दिखते हैं। दूसरे, ५० साल पहिले उनके पिनाजी के मन में क्षय का जो भय था, वह उन्हें विरासत में मिल गया है। वे नहीं जानते कि क्षय भव सतर्नाक नहीं रहा। ५० वर्षों में वैज्ञानिक और डाक्टर बैठे भल नहीं मारते रहे।’

मगर मेरे मित्र को मेरी स्वस्य वातों की अपेक्षा लटके मुखों की बीमार वातें दयादा भा गई थीं। मुझे लगा कि वह इस वात से अप्रसन्न भी है, कि मैं उसकी बीमारी को उचित महत्व नहीं दे रहा हूँ। वह क्षय को मानो कोई विशेष उपलब्धि समझता है और मैं उसकी कीमत कम करके आंक रहा हूँ। आत्म-पीड़न का अपना एक अलग सुख होता है। मैं इस सुख में दखल दे रहा था।

उसकी हालत युछ गिर गयी थी। क्यों न गिरे? कुंभकर्ण के सामने भी यदि चार आदमी बैठकर, मुँह लटका, चिता प्रगट करते तो वह भी युद्ध में न मर कर, साट पर पढ़े-पढ़े बिना बीमारी के मर जाता।

वह विचित्र मनःस्थिति में था। दार्शनिक की तरह जीवन की निस्तारता के बारे में वातें करने लगा। दार्शनिक प्रवृत्ति उसकी कभी नहीं थी, वह सफल व्यवसायी था और व्यवसायी अगर दर्शन से भेल कर ले, तो कारोबार ढूब जाय। पर इस सीके पर वह एकदम हानि-लाभ के हिसाब को छोड़कर मुश्ति और बंधन की वात नहरने लगा। गालिब का शेर दुहराया—

कैदे हयात वदे नम असल में दोनों एक हैं।

मौत से पहिले आदमी गम से नजात पाय क्यों?

उसे यह विश्वास बड़ा प्रिय नग रहा था कि उसके जीवन का अन्त हो रहा है। वह औरों को भी यही विश्वास दिलाने का प्रयत्न कर रहा था। आसन्न मृत्यु के मिथ्या विश्वास का सुख वह अनुभव कर रहा था।

वह बोला—एक कविता लिखी है। सुनोगे?

कथिता सुनी। उसने कविता में अपने किसी से कहा था—साथी, अब चला-चली की बेला आ गई है। दुख में मेरा हाथ मत छोड़ो। मेरे सिरहाने आकर बैठो, दो भीठे बोल बोलो, मेरे केश सहलाओ।

कथिता ने रहस्य सोल दिया। वह क्षय से कम पीड़ित है, क्षय की स्मानियत से अधिक। क्षय के आस-पास अजब किस्म की स्मानी भावनाएँ चिपटी हैं। कठिन रोग और भी होते हैं, कैसर तो घोर कष्टदाय और प्राणघातक है। पर उसे वह इज्जत प्राप्त नहीं है, जो क्षय को प्राप्त है। क्षय सब से अधिक 'रिसेपेन्टेवल' रोग है। इसमें शारीरिक कष्ट

नहीं होता, केवल शय होता है। इसके इताज के लिए बहुत धन चाहिए सुख चाहिए, पाराम चाहिए। राज रोग है। जिसके पास पैसा है वह इस रोग के ऐश को भोग सकता है। महोनी बिस्तर पर पढ़े-पढ़े रंगीन सपने बुन सकता है।

कितनी ही तरह की कोमल भावनाएँ इस रोग के साथ जुड़ी हैं। प्रेमियों का यह बड़ा प्यारा रोग है। कितने ही भावुक प्रेमी शरने देखते हैं कि मुझे शय हो जायगा, मैं पचमनी के सेनेटोरियम में बिस्तर पर पड़ा रहूँगा, एक दिन मेरे सिर पर अचानक उस 'निष्ठुर' का कोमल हाथ होगा और वह भरे गले से कहेगी—‘हाय ! तुमने यह दशा कर लिया’ ! शय कठोर दिलों को विघ्नलाने का साधन बन गया। किसी की कृपा से यह काम अब शाराबखोरी करती है। प्रेमी शाराब पी-योकर जब 'स्पंज' बन जाता है और जब प्रेमिका यह देख लेती है कि वह पूरी तरह बरबाद हो चुका, तब वह उसे अपना लेती है। यो पहिसे अपनाकर भी बरबाद कर सकती है, पर वह स्वयं यह कष्ट नहीं उठाती, शाराब द्वारा बरबाद किया कराया ही प्रहण करती है। रेढीमेड का जमाना है।

शय की रूमानियत प्रदान करने का अधिकाश थ्रेय सेल्फको, कवियों को है। भारत सरकार के स्वास्थ्य विभाग की रिपोर्ट देखिये—उसमें शय से मरने वालों की जो संख्या दी है, उससे अधिक आदमी कहानियों में मर चुके हैं। और स्वास्थ्य-अनुसंधान की रिपोर्ट बतलाती है कि इस देश में अधिकांश को शय गरीबी के कारण होता है, पर कहानियों बतलाती है कि सब को विफल प्रेम से ही होता है। पहाड़ पर सेनेटोरियम में पढ़ी प्रेमिका डायरी लिखती है, जिससे उपन्यास बन जाता है। मंदान में बैठा सेल्फक डायरी की किश्तें पाता जाता है। डायरी नहीं, तो चिट्ठियाँ ही लिखती हैं। कभी चिट्ठियों से कहानी बनती है, उपादा से उपन्यास। विफल प्रेम की परिणति सेनेटोरियम में ही होती है और प्रेम का त्रिकोण भी वही हल होता है। मैं पन्द्रह-वीस ऐसी स्त्रियों को जानता हूँ जिनका विवाह अपने प्रेमियों से न होकर किसी और से हुआ। वे सब स्वस्थ हैं, बाल-बच्चे वाली हैं। पता नहीं लेखकों को मेनेटोरियम ने जाने के लिए कही मिल जाती हैं। इन १५-२० नारियों को मैं कितने बयां सं-
१

सालसा से देख रहा हूँ। देवी, एकाघ तो सेनेटोरियम जाओ कि मैं एक कहानी लिख दूँ। कोई मुझ पर कृपा नहीं करती। प्रेमिका का क्षय-ग्रस्त होना बहुतों को बड़ी लुभावनी कल्पना लगता है। ऐसे नीच पुरुष भी मैंने देखे हैं, जो इस बात पर गर्व अनुभव करते हैं कि उनके प्रेम के कारण किसी को क्षय हो गया।

क्षय एक प्रतिष्ठा की भावना भी बस्ताता है। जो इसके इलाज का सर्व वरदाश्त कर सके, ऐसा आदमी जब अच्छा हो जाता है, तब अपने को औरों से अधिक प्रतिष्ठित समझता है। उसका स्तर कुछ ऊँचा हो जाता है। जब वह बीमार होता है, तब अपने रोग को विशेष उपलब्धि मानकर दुनिया का सारा प्रेम, सारी सहानुभूति और सारा लाभ बटोरना चाहता है। कुछ लोग तो लालसा लगाए रहते हैं कि कब हमें क्षय हो और हम विशेषत्व प्राप्त करें। जिस रुमानी कवि को एकाघ बार क्षय न हुआ हो, वह अपने को कुछ घटिया समझता है। आत्म-कथात्मक लेखन में सेखक क्षम को वहे गर्व से याद करता है—‘राँची…सेनेटोरियम में पड़ा हूँ…वाहर की दुनिया से दूर…दूर…बहुत दूर !’ जिस लेखक को क्षय ही चुका हो, वह अपना यश सुरक्षित समझता है।

क्षय का यह रुमानी आनन्द इसलिए संभव है कि रुमानी रोगी जानता है, इसमें शारीरिक कष्ट नहीं होता, और तत्काल मृत्यु नहीं होती। अब तो यह रोग घातक भी नहीं रह गया—वशर्ते पैसे हों। कौसर को रुमानी रंग देने की हिम्मत कोई नहीं करता। किसी लेखक के कौसर-पीटित नायक के केंद्र में नायिका न अंगुलियाँ नहीं उलझाईं।

बीमार बन्धु की कविता सुनकर मेरे मन में क्षय को रुमानियत प्रदान करने की बात उठी। मुझे कविता अच्छी नहीं लगी। यह भी बाण बात है कि आदमी अकारण करणा का पात्र बनना चाहे, अपने बारे में अमंगल बलरना से दूसरों को बाध्य करे ! मैंने कहा—‘बन्धु, इस कविता को फाड़-कर फेंक दो। दूसरी लिसो, जिसमें अपना उस ‘कोई’ से कहो कि क्या तुम रुमझती हो, मैं यह जाऊँगा ? नहीं, मैं दो महीने में पूर्ण स्वस्थ हो जाऊँगा। तब हम लोग जीवन का भोग करेंगे।’

सहानुभूति

एक कवि मित्र ने रेल से कटकर मातम-हत्या कर ली। मैं उसकी शब्द-यात्रा में जाने साधक साहस नहीं बटोर पाया। वह साथी था, यथों का मित्र ! तीस साल के उस जवान मित्र के दो टुकडे भी हम नहीं देख सके। कुछ लोगों का आप्रह था कि हमें उसके दो टुकडे भी देखना था। उन्होंने तो जी भर उसे देखा था, उसकी शब्द-यात्रा में गये थे और वहे सौक से रस लेकर वर्णन कर रहे थे कि कैसे कटा, कहाँ से कटा, छून कहाँ गिरा, आँखें कैसी थीं, सिर कैसा था। दो टुकडे इतनी दिसपस्ती से देखने वालों में से कई ने, तब उसकी ओर आँखें भी नहीं उठाई थीं, जब वह समूचा था। टुकडे देखने वालों ने हमारी निन्दा धारणा की, जिन्होंने उसे समूचा देखा था। कुछ लोग स्नेह और सहानुभूति का बड़ा भरकर रखे रहते हैं और आदमी के मरने की राह देखने रहते हैं। इनका हृदय धाग बुझाने के लिए पानी से भरी रखी हुई बाल्टी की तरह होता है, जिसका उपयोग तभी होता है, जब धाग सगती है। इनका स्नेह और सहानुभूति प्राप्त करने के लिए आदमी को मरना पढ़ता है। इन लोगों ने, हम नहीं जाने वालों को हृदयहीन कहा। फिर धरमबाट वासी ने कटाया किया। महत्वपूर्ण मृत्यु का उपयोग जो रोचक समाचार घनाने के लिए करते हैं, उन्होंने हम लोगों की सहृदयता पर प्रश्न-पिछू सगाया। धरमबाटी सहानुभूति मैंने एक बार स्वयं देखी थी। एक दिनिक के दफ्तर में सम्पादक के पास बैठा था। सम्पादक अगले अक के लिए 'वेनर' का न 'ह' थे। कोई बड़ा समाचार मिल नहीं रहा था और बेप्राशान था। यहाँ रेडियो ने एक बड़े सोकप्रिय नेता की मृत्यु का समाचार दर्शाया था।

सम्पादक खुशी से उछल पड़े और टेबिल पर हाथ मारकर बोले, "फ़ाइन ! अच्छा 'बेनर' बन जायगा ।" अखबारनवीसों ने न जाने वालों पर टिप्पणी करके उस कवि की प्रतिष्ठा को भी बढ़ाया नहीं, घटाया ही । अर्थ तो यहीं निकला न कि उसकी शब्द-यात्रा में कई साहित्यिक ही नहीं गये । यह भी क्या कवि ! नादान की दोस्ती वाली कहावत ऐसे ही मीके पर याद आती है ।

सहानुभूति का हिसाब नहीं करना है, संवेदना की तुलना नहीं करनी और न यही कहना है कि हम औरों से अधिक सहृदय हैं । एक बात मन में उठती है कि जीवित की अवहेलना और मृतक का सम्मान कितना बढ़ गया है । पांच सौ साल पहिले कवीर वड़ी हैरत में चिल्लाया था—

‘जियत वाप से दंगम दंगा,
मरे हाड़ पहुँचाये गंगा !’

याद भाता है कि इसा जब भक्तों के दल के साथ बढ़े जा रहे थे, तब एक आदमी ने आकर कहा कि मैं मृत भाई को दफनाकर भी आता हूँ । इसा ने कहा—‘लेट द छेड बरी देअर से !’ तुम चलो मेरे साथ ! इसा रूपा हृदयहीन था ? इसा ने उस ‘फाम’ का विरोध किया था, जो जीवन को ढैंक लेता है । देखता हूँ, बुरी तरह ‘फाम’ ने हमारी भावनाओं को आयूत कर रखा है । रूप और रूपक का बोलबाला है । स्नेह, सहानुभूति, करुणा का भी एक प्रगट रूप रुद्ध हो गया है और उसी को हम भाँतिक भाव से अधिक मानने लगे हैं । सच्चा संवेदन भी जब रुद्ध हो जाता है, तब वह एक भावहीन, रिक्त, पीया रिफ्लेक्स हो जाता है । चिन बोले का दुख बड़ा कहा गया है, पर अब कोलाहल से दुख की मात्रा नापी जाती है । शब्द-यात्रा में जो तफरीहन भी जाय उसका दुख बड़ा गिना जायेगा और जो दुख से टूटकर घर बैठा रहे, उसे निष्ठुर माना जायगा । प्रथा है कि पुत्र की अन्त्येष्टि किया में पिता नहीं जाता । भला पिता पुत्र का दाह होते कैसे देखेगा ! अधिक दुख वाले को घर में ही बैठने देना चाहिए । लैपिन अब शायद अधिक दुख का सबूत देने के लिए वाप को भी रूपक रखना पड़ेगा । एक आदमी को जानता हूँ जो हर शब्द-यात्रा में जाता है । दाह-संस्कार के प्रबन्ध के लिए उस जैसा विश्वासी आदमी

दूसरा नहीं है। कहण से कहण मृत्यु पर जब भ्रातृप्राप्ति लोग सिस्तकते होते हैं, उसके बेहरे पर शिकन भर्ही भाती। वह उत्सव के उत्साह से रस्सी, घास-बौस और हंडी की व्यवस्था में व्यस्त रहता है। क्या वह हर मृत्यु पर सबसे अधिक दुखी आदमी होता है?

नीरो रोता भी समारोह में था। हम सभी छोटे-मोटे नीरो बने जा रहे हैं। जो समारोह में न रोये, उसका रोना, रोना नहीं गिना जायगा। पहिले 'मदनोत्सव' होते थे, अब रुदनोत्सव होते हैं। इन रुदनोत्सवों में सच्चा रोनेवाला लो रह जाता है, भूठा रोने वाला रंग जमा लेता है। एक नेता की शब-यात्रा मैंने देखी थी। उसका शब एक ट्रक पर रख-कर ४-५ मील दूर नमंदा-घाट पर ले जाया जा रहा था। एक व्यक्ति जो बड़ी उत्तेजना से जुलूस की व्यवस्था कर रहा था, एक दम उचककर ट्रक पर चढ़ गया और शब के सीने पर दोनों हाथ रखकर दहाड़ मारकर रोने लगा, "हाय—जी!" ऐसा भ्रोवर-एविट्टग हुआ कि ट्रैक्टरी की जगह कॉमेडी हो गयी। मृतक के साथ भाई बेचारे नीचा सिर किए भ्रतिम पवित्र में चलने लगे। उनका रोना हराम कर दिया, उस विकट विलापी ने। दूसरे दिन भ्रतिमारों में छपा कि उक्त व्यक्ति ४-५ मील शब से चिपका हुआ कंदन करता गया और रास्ते में उसे कई बार झूर्छा, या गई। यह आगे क्यों नहीं लिखा कि धिक्कार है उन वज्य-हृदय भाइयों को, जो एक बार भी नहीं बीचे भ्रोर चुपचाप पीछे चलते रहे।

सोक-समारोह कभी-कभी कैसे हास्यास्पद हो जाते हैं, इसकी धारपीती दरताता हूँ। मैं एक स्कूल में अध्यापक था। १० बजे लड़कों की सामूहिक प्रार्थना होती थी। वे आपस में सत्ती गारते, पैसिल कोचते, कान खीचते, चिमटी लेते, प्रार्थना कर लेते थे। सामने चबूतरे पर खड़े अध्यापक भी यह फुसफुसाते हुए निभा लेते थे कि यार, आज दस तारीख हो गई पर वेतन नहीं मिला भभी तक। बेचारे रोज प्रार्थना करें फिर भी इतना-सा धरदान न मिले कि वेतन पहिली को मिल जायगा। मैं प्रार्थना में जामिल नहीं होता था। संस्था के मालिकों ने मुझे यह सोचकर नहीं छेड़ा होगा कि ईश्वर के होने का कोई निश्चय नहीं है, पर यह भादमी तो निश्चित है। मनिश्चित का पक्ष लेकर निश्चित से कौन भक्त करे। मैं भपने कमरे में

यैठा रहता। एक विशेष अवसर पर मैं उस स्थल पर पहुँचता था—तब जब किसी प्रसिद्ध व्यक्ति के लिए शोक-प्रदर्शन करना होता। शोक-भाषण मेरे जिम्मे था। हर दो-चार माह में ऐसे व्यक्ति मृत होते ही हैं जिनके लिए दृक्कूलों में शोक-प्रस्ताव पास होते हैं और छुट्टी होती है। मुझे हेड-मान्टर ने मूर्चना मिल जाती कि आज शोक भाषण करना है। मैं ग्रांडों में अनीम दर्द भरकर, मुख पर दुग्ध विछाकर, धीरे-धीरे नीचे देखता कमरे से निकलता और चबूतरे पर खड़ा हो जाता। सामने सैकड़ों लड़कों की कतारें होतीं। विकल नयनों से मैं एक बार उन लड़कों को देखता और भारी गले से बोलना आरम्भ कर देता—‘आज हम गहन शोक की छाया तके खड़े हैं……’ भाषण के अन्त में यह अवश्य कहता कि मृतक जो स्थान रिक्त कर गया है, वह कभी नहीं भरेगा—पद्यपि किसी-किसी के मरने में कोई स्थान ही रिक्त नहीं होता, वल्कि ऐसा लगता है कि अच्छा हुआ ‘ट्यूमर’ कट गया। मैं हर मरने वाले में मनुष्य के सब गुण आरोपित कर देता था, वह चाहे विश्व-प्रसिद्ध व्यक्ति हो या मुहल्ले का नेता। देखते की एक कहानी में मुझ जैसा एक पात्र है जो मृत्यु पर भाषण करने में उत्ताद है। उसके पास ‘रेडीमेड’ भाषण हैं। उसे लोग सौते से उठाकर इमशान भूमि ले जाते हैं, मरने वाले का नाम मात्र बता देते हैं और वह घटल्ले से शोकपूर्ण भाषण दे देता है। एक बार नशे की झोंक में वह नामों में गड़वड़ा गया और उस व्यक्ति की मृत्यु पर बोल गया, जो उसके ठीक सामने खड़ा था। मुझे भी शोक-भाषण का अभ्यास हो गया था। ठंड में जब काली शेरवानी घारण किए मैं बोलता; तब तो ऐसा लगता जैसे पादरी अंतिम आशीर्वाद दे रहा है। मेरे भाषण के बाद छुट्टी हो जाती।

कुछ दिनों में लड़कों ने मेरी प्रार्थना में आने का सम्बन्ध छुट्टी से जोड़ लिया। मैं आता दिखता, तो समझ जाते कि कोई मरा है और आज छुट्टी हो जायगी। फिर तो लड़के कभी किसी की मृत्यु की स्थवर पाकर मेरे पास आते और बड़ी गम्भीर मुद्रा में कहते, ‘सर, अमुक आदमी की मृत्यु हो गयी। शोक-सम्बन्धीय चाहिए।’ मैं उन्हें टालता, तो वे जोर देते, ‘सर सर्वदा शोक छाया हुआ है। वह महापुरुष था। उसकी आत्मा की धाँति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए।’ एक दिन तो मुझसे प्राक्तर कहने लगे कि डाक्

मानसिंह के लिए शोक-सभा करनी चाहिये। मैंने ढाँटा, तो कहने से कि चाहे डाकू हो, पर या तो प्रसिद्ध आदमी। एक दिन एक प्रसिद्ध आदमी को मृत्यु हुई। हेठमास्टर को यह निर्णय करने में देर सगी कि मरने वाला छुट्टी के योग्य या या नहीं। लड़के निराश हो चुके थे। अतिम क्षण में हेठमास्टर ने मुझे बुला भेजा। मुझे आते देखते ही लड़के छुट्टी से उचकने लगे और तासी घजाकर चिल्ताने लगे, "छुट्टी होगी ! छुट्टी ! छुट्टी !" मैंने क्रोध से उनकी ओर देखा और ढाँटा। फिर भारी स्वर में शुरू किया, "आज हम गहन शोक की छापा तले"—वाक्य समाप्त होने के पहिले ही लड़के को नाहल करते हुए भाग लड़े हुए। कहा जायगा कि अनुशासन नहीं था लड़कों में। मैं कहता हूँ शोक-प्रदर्शन की भावनाहीन झड़ि का यही परिणाम होता है। आत्मा अगर वास्तव में होती हो तो उसकी शांति बढ़ी भग होती होगी, हमारी इन आत्मा की शांति की प्रार्थनावाली शोक सभाओं से।

इन रूपों में कहाँ सच्चा संवेदन है? भर्त्यों के पीछे चलने वालों में कौन दोस्त और कौन दुश्मन है, इसकी कोई पहिचान नहीं है। मेरे एक परिचित की बीमारी में जितने लोग उन्हें देसने आये, उनमें से आधे भी उन्हे बोट देते, तो वे लोक-सभा का चुनाव जीत जाते, पर वे बेचारे म्युनिसिपल की बढ़ं मेम्बरी का चुनाव ही हार गये।

फार्म जहाँ नहीं है, वहाँ भी भावना है, इसे हम क्यों नहीं मानते? शायद वहाँ थोड़ी अधिक ही हो। जहाँ आठम्बर प्रधान हो गया वहाँ सच्ची भावना कैसे रहेगी? खादी जिसके शरीर पर न हो, उसे कुछ समय पहिले तक देश-भक्त ही नहीं समझते थे। ऐसा नग रहा या कि खादी का देश की अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्ध तोड़कर लोग मन्दिर में खादी का पान रखकर उसकी पूजा करेंगे।

जिस दिन पादरी का बढ़िया रेशमी चोगा सिल गया, उस दिन से चबूं में शायद उनके ईश्वर ने भाना छोड़ दिया। जितनी देर मुल्ला मस्जिद की गुम्बद से सबको सुनाकर खुदा को पुकारता है, उतनी देर उसका खुदा मस्जिद से भागकर कही चला जाता होगा। जब वैदित ने पूजा में तरह-तरह के बहाने से यजमान से वैसे रखवाना शुरू किया, तो उनके देवता

वसाफ़र सिसक दिये ।
 यह सब शायद मन की बहुक है । आखिर रीति-नीति भी तो कोई
 नीज है । रुढ़ि का भी तो अपना महत्व है । माना कि हम मनुष्य के देटे
 को सूली पर टौंग देते हैं, पर गले में 'फास' लटकाए तो घूमना ही
 चाहिये ।
 इसलिए उन् । शोक-सभा में जाना है । वहाँ जाने वालों के नाम
 छपेंगे ।

कचहरी जाने वाला जानवर

आदमी दूसरे जानवरों से कित्त बात में भिन्न है ? यानी वह कौन-सी चीज़ है जो आदमी को जानवर होते हुए भी स्थास किस्म का जानवर बना देती है ? ऐसे प्रश्नों के उत्तर विद्वानों ने दिये हैं नयोंकि विद्वान प्रश्नों के उत्तर देने के लिए ही जीता है और सूद जिन्दगी भर कोई प्रश्न न पूछ सकने के कारण बूढ़ू बना रहता है। तो एक विद्वान ने कहा है, आदमी औजार बनाने वाला जानवर है। एक दूसरे ने कहा है, कि आदमी सोचने वाला जानवर है। दोनों बातें अद्दं सत्य हैं। सोचता तो कुत्ता भी है और नाक से सोचता है। इसीलिए अपने दर्जे के आदमी से कौन सा माना जाता है। पुलिस इन्सपेक्टर भी चोर का पता लगाता है और पुलिस का कुत्ता भी। भगव एक जासूस कुत्ते की कीमत इन्सपेक्टर साहब के जिन्दगी-भर के वेतन, जायज-नाजायज भत्ते और धूस से अधिक होती है। और जहाँ तक औजार बनाने की बात है, चीटी को चांस मिले तो आदमी से अच्छे औजार बनाकर घता दे। नहीं, इन दोनों कारणों से आदमी आदमी नहीं है। मैं विद्वान नहीं हूँ क्योंकि मैं सबाल पूछता हूँ। पर मैंने भी आदमी की परिभाषा बनाई है। आदमी कचहरी जाने वाला जानवर है। कोई और जानवर कचहरी नहीं जाता—जाना भी नहीं चाहेगा। भगव गधे से भी पूछो कि क्यों भाई आदमी बनेगा, तो वह जवाब देगा—'नहीं बाबा, उसमें कचहरी जाना पड़ता है !'

यह ज्ञान एकाएक आज मेरे भीतर उमड़ उठा। तप के बिना ज्ञान नहीं मिलता। मैं ३-४ दिनों से कचहरी जाने का तप कर रहा हूँ क्योंकि आदमियत को लाज रखनी थी। मैं आज उन दार्शनिकों से पूरी तरह सह-

घबड़ाकर सिसक दिये ।

यह सब शायद मन की बहक है । आखिर रीति-नीति भी तो कोई चीज है । रुढ़ि का भी तो अपना महत्व है । माना कि हम मनुष्य के वेटे को सूली पर टाँग देते हैं, पर गले में 'क्रास' लटकाए तो घूमना ही चाहिये ।

इसलिए उठूँ । शोक-सभा में जाना है । वहाँ जाने वालों के नाम छपेंगे ।

कच्चहरी जाने वाला जानवर

आदमी दूसरे जानवरों से किस बात में भिन्न है ? यानी वह कौन-सी ओज़ है जो आदमी को जानवर होते हुए भी सास किस्म का जानवर बना देती है ? ऐसे प्रश्नों के उत्तर विद्वानों ने दिये हैं क्योंकि विद्वान प्रश्नों के उत्तर देने के लिए ही जीता है और सुदूर जिन्दगी भर कोई प्रश्न न पूछ सकने के कारण बूढ़ू बना रहता है । तो एक विद्वान ने कहा है, आदमी औजार बनाने वाला जानवर है । एक दूसरे ने कहा है, कि आदमी सोचने वाला जानवर है । दोनों बातें अद्वं सत्य हैं । सोचता तो कुत्ता भी है और नाक से सोचता है । इसीलिए घपने दर्जे के आदमी से केंचा माना जाता है । पुलिस इन्सपेक्टर भी चोर का पता लगाता है और पुलिस का कुत्ता भी । मगर एक जासूस कुत्ते की कीमत इन्सपेक्टर सहृदय के जिन्दगी-भर के देतन, जायज-नाजायज भत्ते और धूम में धार्विक हैंटी है । और जहाँ तक औजार बनाने की बात है, चीटी बो चांद मिने द्वारा आदमी से अच्छे औजार बनाकर बता दे । नहीं, इन दोनों द्वारा द्वारा आदमी नहीं है । मैं विद्वान नहीं हूँ क्योंकि मैं इन्हें इन्हें हूँ । पर मैंने भी आदमी की परिभाषा बनाई है । आदमी इन्हें इन बातों वाला जानवर है । कोई और जानवर कबहूँही नहीं इन्हें इन्हें नहीं चाहेगा । मगर गधे से भी पूछो कि वनों में इन्हें इन्हें इन्हें देखते हैं, वह जवाब देगा—'नहीं बाबा, उसमें कबहूँहुँ नहिं देखते हैं ।'

यह ज्ञान एकाएक आज मेरे नोडर इन्हें है : इन्हें है इन्हें है नहीं मिलता । मैं ३-४ दिनों में इन्हें है इन्हें है इन्हें है इन्हें है आदमियत की साज रखनी दी । मैं इन्हें है इन्हें है इन्हें है इन्हें है

मत है जो कहते हैं, जीव को मंसार में दुरा भोगने के लिए भेजा जाता है। और जिन दुर्योगों को भोगना जरूरी है, उनमें सबसे बड़ा दुरा कनहरी जाना है। कोई-कोई दूरा दुरा से बच भी जाते हैं। जब ऐसा जीव देह त्यागकर उम लोक जाता है, तब उसमें पूला जाता है यद्यों, कनहरी गए थे? जीव जीवाव ऐसा है—नहीं, ऐसा गोका तो नहीं आया। ऐसे हीन तप जीव को, फिर पृथ्वी पर भेजा जाता है और मनुष्य ही बनाया जाता है, क्योंकि कोई और जानवर कनहरी नहीं जाता। जब जीव कनहरी के दुरा कापी भोग लेता है, तब उसे जन्म-मरण के वन्धन से युक्ति गिलती है और वह दूरा में सीधे होकर निरन्तर बहानन्द रसा पा पान करता है, इसीलिए दूरा जीवन के बाद युक्ति पाने योग्य वैष्णव व्यवसायी रोज लाल खाता-बहीं बगल में एवाए कनहरी जाते हैं।

आज मेरी दृष्टि ही बदल गई। वीण हो गया। गीतम पो ज्ञान प्राप्त करने के लिए इतने तर, चिन्तन, मनन की ज़रूरत ही नहीं थी। दो-पाँच दिन शासने राज्य की किसी कनहरी में हो आते, तो एकदम बुद्ध ही जाते। अभी तक मैं सोचता था कि अर्जुन युद्ध नहीं करना चाहता था। पर गुरु ने उसे नहीं दिया। यह अनुच्छा नहीं किया। अगर अर्जुन युद्ध नहीं करता, तो या करता? कनहरी जाता। जगीन का गुकदमा दायर करता। खंडिल यन से लोटे पांडव अगर जैसे-तीसे कोटं फीस चुका भी देते, तो वकीलों की पीछा कहीं से देते, गयाहीं को पैसे कहीं से देते? और कनहरी में पर्मराज का क्या हाल होता? वे 'कारा-एवला-गिनेशन' के पहिये ही भट्टों में उतारे जाते। सर्ववादी भी कहीं गुकदमा लड़ सकते! कनहरी की खोट में भीम की जर्बी उतर जाती। युद्ध में तो १८ दिन में फौगला हो गया; कनहरी में १८ साल भी लग जाते। और जीतता दुर्योग ही, क्योंकि उसके पास पीसा था। सर्व गूढ़ है; पीसा स्थूल है। त्याग देना को पीसा दिया जाता है; सर्व नहीं दियता। पायद पांडव गुकदमा राज्य-नाश से गर जाते क्योंकि दुर्योग पीसी बहुवाता जाता। पांडवों के साथ उनके भेटे नहीं; फिर उनके भेटे। बड़ा अच्छा किया गुरु ने जो अर्जुन की सहायता १८ दिनों में फौगला करा लिया। यरना आज कोरप पांडव के वंशज गिसी दीवानी कनहरी में कहीं गुकदमा लड़ते हीं।

दिन-भर मैंने वादी-प्रतिवादी देखे, वकील देखे, सच्चे-झूठे गवाह देखे। बयान, एकजामिनेशन और आस एकजामिनेशन सुने। फिर एक विद्वान् से पूछा, यह सब क्यों होता है? विद्वान् ने कहा, 'न्याय-देवता एक के बाद एक छन्ना लगाता है और झूठ को छान-छानकर अलग करता जाता है। अंत मे सत्य बच रहता है।' मैंने कहा, 'मगर न्याय को तो अन्या कहा गया है। जब अन्या छानने बैठे, तो क्या पता कि वह झूठ को छानकर अलग कर रहा है या सत्य को ?'

न्याय देवता है। हर देवता भैट लेता है। अगर भक्त से सीधे भैट ले तो कोई बात नहीं, पर हर देवता का एक मध्यस्थ होता है—'मिडिलमेन' से कही छुटकारा नहीं। न्याय देवता का मिडिलमेन वकील होता है। दुश्मन से छुटकारा मिल सकता है, पर अपने ही वकील से छुटकारा मुक्तिकल है। एक बार कचहरी चढ़ जाने के बाद मबसे बड़ा काम है, अपने ही वकील से अपनी रक्षा करना। प्रतिपक्षी से उतना डर नहीं रहता, जितना अपने ही वकील से। वह एक के बाद दूसरी उलझन में आपको फँसाता जायगा और आप समझ नहीं पायेंगे कि आप कहाँ जा रहे हैं। मुझे इसका अनुभव हुआ। मुख्य मामला जहाँ का तहाँ है लेकिन इस बीच मेरा वकील मुझसे कहता है कि विरोधी पर एक-दो झूठे मुकदमे दायर कर दो। मैंने पूछा—'इससे क्या होगा?' वह बोला, 'विरोधी हेरास (परेशान) होगा।' मुझे यह बात समझ मे नहीं आई। मैं झूठा मुकदमा चलाऊँ। विरोधी जानता है कि मुकदमा झूठा है और पहिली ही पेशी में खारिज हो जायगा। तो 'हेरास' वह होगा या मैं होऊँगा?

वकील की टेक्नीक डाक्टर जैसी होती है। सफल डाक्टर वह है जो मरीज को न मरने दे, पर इलाज चलता रहे। सफल वकील वह है, जो मुख्यक्रिया को न जीतने दे, न हारने दे, बस मुकदमे चलते रहे। इसीलिए सफल डाक्टर और सफल वकील के हाथों अपने को सौंपना खतरे से बचाना नहीं है।

यदि आपके हाथ से चूहा मर गया है और आप कही यह बात सफल वकील के सामने कह दें तो वह चौक कर पूछेगा—'क्या कहा? चूहा मार दाला? आपने? कैसे?' आप उसे बतायेंगे कि अलमारी हटाते समय

चूहा चपेट में आ गया। वकील पूछेगा, 'क्या उसने आप पर हमला किया था?' आप नहीं कहेंगे और तब वकील आपकी तरफ इस तरह देखेगा मानो आप फाँसी पर टौर रहे हैं! कहेगा, 'आपने दफा ३०२ का जुर्म कर डाला! क़त्ल! आत्म-रक्षा का 'प्ली' भी नहीं ले सकते!' आपके हाथ-पाँव फूलेंगे और आप वकील कर लेंगे। पर वह यह कहकर 'केस' लेने से इन्कार करेगा कि मामला कमजोर है, आपको फाँसी होना पक्का है। फिर जब आप उसकी फीस बढ़ायेंगे, तो कहेगा 'केस' जीता-जिताया रखा है, आप साफ बच जायेंगे। आप सोचते रहिये कि जो 'केस' फीस देने से पहिले कमजोर रहता है, वह फीस देने के बाद ताकतवर कैसे हो जाता है। पैक्से में बड़ा विटामिन होता है।

वात आगे बढ़ाना भेरे लिए अच्छा नहीं। मुकदमा मुझ पर चल रहा है। अगर भेरा वकील इसे पढ़ेगा, तो मुझसे बदला लेगा। बड़ा सफल वकील है वह। कल कह रहा था कि वकालत का पेशा बड़ा 'नोवल' है, इस की दम पर समाज की नैतिकता टिकी है। फिर वडे गवं से कहने लगा— हत्या के १३ मामले आज तक मैंने जीते हैं। १३ आदिमियों को फाँसी से बचाया है। मैंने पूछा, 'क्या आप जानते थे कि इन १३ ने हत्या की थी?' वकील साहब को व्याप नहीं रहा कि उनका 'फ्रास एक्जामिनेशन' होने लगा है। वे वडे गवं से बोले, 'हाँ, जानता था। पर सब को साफ बना लिया।' मैंने कहा, 'वकील साहब, यह गवं की बात हुई कि शर्मे की? क्या हत्यारे को सजा से बचाने के कारण ही यह 'नोवल' घन्घा हो गया?'

मेरी सावधानी ढीली हो रही है। वकील का उपहास करेगा, तो कल वह अदालत में उपहास करेगा।

चंदा

किमी मे धगर दुश्मनी मैंजानी हो तो उमे दम देकर चुनाव में लड़ा कर दीजिये या चंदा बमूल करने का काम दे दीजिये । जब वह द्वार-द्वार बोट या पैमा मौगने जायगा और उमे मलूकदास की उकित याद आयगी—‘जिनके देसे दुख उपजत है तिनखों करवो पड़े सलाम’, तब वह जिन्दगी-भर इस भक्टि मे न पढ़ने की कसम खायगा । ऐसा मेरा ख्याल था । मैंकिन देखता हूँ कि लोग बार-बार हारकर भी चुनाव मे लड़े होते हैं जैसे स्त्री प्रसव-पीड़ा से वस्त हो, फिर कभी उस मार्ग पर न जाने की कसम खाती है, पर फिर उसी मार्ग पर जाती है । (उकित गोस्वामी तुनमीदास की) निर्वाचित पद मे बड़ा भाकर्पण है । इसी तरह चंदा करने मे भी बड़ा भाकर्पण है । क्यो है, यह हमे तब मालूम हुआ, जब ‘बमुपा’ पत्रिका प्रारम्भ की और बडे पैमाने पर चंदा अभियान शुरू हुआ । रसीद बुके उरते ही कितने ही आदमी इस ‘पुण्यकार्य’ मे हाथ देंटाने भा पहुँचे और रसीद बुके ले गये । जिनसे हमारा सिफं दुमा-सलाम का सम्बन्ध था, वे भी जब उत्साहपूर्वक रसीद बुके से गये, तो हमे बड़ी लुशी हुई कि हमारे भी कितने ही हितचितक हैं जिन्हें हम जानते तक नहीं । इसके साथ ही एक खटका भी हुआ, पर उत्साह ने खटके को दबा दिया । दो-सीन महीने हो गये, पर उनमें से कई शुभचितक नहीं लौटे, न रसीद बुके आयी न चंदा आया । और ग्राहको की चिट्ठियां आने लगीं कि हमे पत्रिका नहीं मिली, हमने अमुक जी को चंदा दिया था, हमारी रसीद का नम्बर यह है । हमारे पास न अमुक जी थे, न चंदा जी, न रसीद जी थीं । तब हमने एक सिद्धांत निर्मित किया, जो भविष्य के चंदा घर्मियो के साभार्य

चंदा

किमी मे धगर दुश्मनी भौजानी हो तो उसे दम देकर चुनाव में खड़ा कर दीजिये या चंदा बमूल करने का काम दे दीजिये। जब वह द्वार-द्वार बोट या पैसा माँगने जायगा और उसे मलूकदास की उक्ति याद आयगी—‘जिनके देसे दुख उपजत है तिनखों करबो पड़े सलाम’, तब वह जिन्दगी-मर इस भंडट मे न पड़ने की कसम खायगा। ऐसा मेरा स्थाल था। लेकिन देखता है कि लोग बार-बार हारकर भी चुनाव मे खड़े होते हैं जैसे स्त्री प्रसव-पीड़ा से ब्रस्त हो, फिर कभी उस मां पर न जाने की कसम खाती है, पर फिर उसी मां पर जाती है। (उक्ति गोस्वामी तुलमीदास की) निर्वाचित पद में बड़ा प्राकरण है। इसी तरह चंदा करने मे भी बड़ा प्राकरण है। वर्णों है, यह हमें तब मालूम हुआ, जब ‘वसुधा’ पत्रिका प्रारम्भ की और बड़े पैमाने पर चंदा अभियान शुरू हुआ। रसीद बुके छपते ही कितने ही प्रादमी इस ‘पुण्यकार्य’ में हाथ बँटाने प्रा पहुँचे और रसीद बुके ले गये। जिनसे हमारा सिर्फ दुआ-सलाम का सम्बन्ध था, वे भी जब उत्साहपूर्वक रसीद बुके ले गये, तो हमे बड़ी लुशी हुई कि हमारे भी कितने ही हिताचितक हैं जिन्हे हम जानते तक नहीं। इसके साथ ही एक खटका भी हुआ, पर उत्साह ने खटके को दबा दिया। दो-तीन महीने ही गये, पर उनमें से कई धुम्चितक नहीं लौटे, न रसीद बुके प्रायी न चंदा आया। और प्राहको की चिट्ठियाँ प्राने लगी कि हमे पत्रिका नहीं मिली, हमने अमुक जी को चंदा दिया या, हमारी रसीद का नम्बर यह है। हमारे पास न अमुक जी थे, न चंदा जी, न रसीद जी थीं। तब हमने एक सिदात निर्मित किया, जो भविष्य के चंदा धर्मियों के लाभार्थी

यहाँ दिया जाता है।

जो स्वयं प्रेरित और उत्साहित होकर रसीद बुक माँगने आये, उसे हरणिज मत दो। उसे दो, जो तुम्हारे आग्रह पर जबरदस्ती आफत की तरह उसे स्वीकार करे।

चंदा-वसूली में जो आकर्षण है, वह हमें समझ में आया। और यह भी समझ में आया कि 'गुप्त-दान' का क्यों महत्व है? यह क्यों कहा जाता है कि सर्वोत्तम दान वह है जिसमें वायाँ हाय न जाने कि दाहिने ने क्या दिया? चंदा खाने वाले के सुभीते के लिए ही गुप्त दान की परम्परा को महत्व मिला है।

इसके बाद हमने रसीद वहिया देना बन्द कर दिया और स्वयं चंदा करने निकले। माँगना तीन प्रकार का होता है—अपने लिए माँगना, अपने समेत दूसरों के लिए माँगना और केवल दूसरों के लिए माँगना। अपने लिए माँगने में लज्जा है, अपने समेत दूसरों के लिए माँगने में एक गवं है। गांधीजी तीसरे प्रकार के माँगने वाले थे और उन्हें देने वाला स्वयं गवित होता था। हम दूसरे प्रकार के माँगने वाले थे।

चंदा माँगने वाले जानते हैं कि एक प्रकार का आदमी ऐसा होता है कि उसे कोई पैसा ले ही नहीं सकता। श्री हेनरी ने ऐसे एक नहीं देने वाले का वर्णन करते हुए लिखा है कि पृथ्वी कछुए की पीठ पर रखी है। पर कछुआ किस पर बैठा है? कछुआ ऐसे ही लोगों की पीठ पर बैठा है। ऐसी मजबूत पीठ होती है, नहीं देने वालों की। लेकिन ऐसे लोगों की पीठ भी टूटती है भय से या लोभ से। एक नगर में हम चंदा माँगने गये तो चौराहे पर सड़े होकर मिश्रों ने दवा की एक दृकान की ओर संकेत करके कहा, 'अगर इससे आप चंदा ले लें, तो हम लोग आपको २५ रु० आपस में चंदा करके इनाम देंगे। हमारी जानकारी में इससे आज तक कोई नहीं ले पाया।' हम गये और उसने हमें रुखा जवाब दे दिया। लौट आये। इसी समय मुझे अपना एक मिश्र दिखा, जो उस शहर में एक्साइज इंसॉफ्टर था। मैंने उसे पुकारा। उसने पूछा, 'अरे, तुम कैसे आये?' मुझे

सहसा एक बात सूझ यहै। मैंने कहा, 'हम जोये दृढ़जंदा। रहिते हुए देरी साथ उस दृक्कान तक चले चलो।' उन्होंने कहा, 'क्यों? बात स्वता है?' इन्हें कहा, 'अभी कुछ नहीं बताऊंगा। तुम नेरे साथ बहो उक्क चले रहो।' वह सासी उत्तमता में पड़ा, परन्तु उसका हो लिया। इत्तरेस्टर को देखते ही दृक्कानदार हाथ जोड़कर खड़ा हो गया—गार्ड, रूल-पेक्टर साहब!' 'हम बंठ यदे और दृक्कानदार ने लड़के को पान के भेजा। मिश्र ने मुझ से पूछा, 'अब तो बताओ, बात क्या है? कैंडे गार्ड?' मैंने कहा, 'एक पत्रिका निकाली है। उसी के तिए चंदा करने गार्ड आवा या। (दृक्कानदार की तरफ इशारा करके) आपके पास भी इत्तीतिए गार्ड आवा या।' मिश्र ने कहा, 'ही, ही, जरूर। ये ग्राहक बन जायेये।' मैंने रहीद काटकर दृक्कानदार के सामने रखी और उसने ६ रु० निकालकर मेरे हाथ में दिये और इस तरह देखा, मानो कह रहा हो कि इस देश के विषयान में प्रगर नागरिक के जीवन-रक्षा के मौलिक अधिकार का उत्तेष्ठ न होता, तो मैं तुझे यही मार डालता।

जो चन्दा देने वाला नहीं है उसे किसी विशेष काण में पकड़ना चाहिए—किसी ऐसे काण में जब उसकी सतत सचेत बृद्धि भ्रमित हो रही हो। एक नगर में एक कपड़े के व्यापारी के पास हम बंठे थे और वहाँ ग्राहक बनने की प्रार्थना कर रहे थे। वह पूँछ पर हाथ नहीं घरने दे रख था। जब वह तंग गाया तो बोला, मुझे तो पत्रिका पढ़ने की फुरहड़ है नहीं मिलती। हमारे मुँह से निकल गया, 'पढ़ने वालों को तो हम दुःख दें भेजते हैं। ग्राप तो ग्राहक बन जाइये।' वहाँ बंठे ४-५ मिनट टहाका बार-कर हँस पड़े। सेठबी की कुछ समझ में नहीं ग्राया। वे सुन के दूँह दूँह तरफ देखते और बेहूद परेशान होते। इधर लोग रह-रहकर दूरी हैं कर रठते। सेठ बुरी तरह भ्रमित हो गये। मैंने इस बीच रहीद काट दे दूँह उनके सामने रख दी। वह उनका कमज़ोर काण था। उन्होंने ६ रु० टैक्ट कर दे दिये।

कभी-कभी ग्रामी जब धर्म-संकट में फँस जाता है, तब बिल्कुल हँस कर दे देता है। एक नगर में हम एक बड़े जैन व्यापारी के चहरे चांद-चांद में गये। व्यापारी बड़े व्यस्त थे। संकटों छोपे काढ़ उनके हँसने दूँह दूँह

दुनिया में चंदा होगा, तब तक मुझे देना होगा। इसे वह पारीर घरने का अनिवार्य दण्ड मानता था और ज्ञानियों की उरह शाति से भोगता था।

व्यापारियों का चंदा देने का तरीका भी बड़ा विचित्र है। एक व्यापारी के पास जाइये, तो वह कहेगा, 'भमुक जी से ले आये ?' (भमुक जो उसके, प्रतिद्वन्द्वी और बराबरी के सेठ हैं।) आप कहेंगे, जी नहीं, आपके पास ही आये हैं। वह कहेगा, 'उनसे ले आइए। जो बे दे, वही मेरे नाम लिख लीजिये।' अब अगर आप भमुक जी के पास गये तो वे आपको बापस भेजेंगे कि उनसे ले लो और जो बे दे, वह मेरे नाम भी लिख लो। आप शटल कॉक की उरह दोनों व्यापारियों के बीच चक्कर काटेंगे। व्यापारी की एक और आदत होती है। आपको वह बड़े प्रेम से बिठायगा और जब आप पूछेंगे, 'कितना लिख दूँ ?' तो वह बड़ी सरलता से कहेगा, 'जो आपका जी चाहे।' आप जोर देंगे कि बता दीजिये और वह कहता जायगा 'नहीं साहब, मैं कुछ नहीं बोलूँगा। आप जो लिख देंगे, मैं दे दूँगा।' इसका यह अर्थ लेना कि यह अधिक दे देगा, गलत है। इसका अर्थ है कि यह कम से कम देना चाहता है। अगर आप १०० रु० की उम्मीद करके आये हैं, तो वह १० रु० मुद्रिकल से देगा। पर वह अपने मुँह से नहीं कहेगा। उसके पास बैठा कोई आदमी उसके कान में बात करके आपसे कहेगा कि इतना लिख दीजिये।

चंदे का अंतिम अनुभव ऐसा था कि उसके बाद शादद कोई भी इस काम को आगे नहीं कर सकता। एक दूसरे शहर चंदा करने गये। एक मित्र हमे लेकर एक बड़े व्यापारी के पास गये। वे सिर्फ़ दस्तखत कर सकते थे, पर चंदा देने में उदार थे। उन्होंने बड़ी आवश्यत की। मैंने उन्हें पत्रिका के बारे में बताया और एक प्रतिदी। उन्होंने चरमा सोला, पोंछा और आँखों पर चढ़ाया। फिर बड़ी देर तक वे उसके पने पलटते रहे और बोले। 'अच्छी है।' ऐसी समझदारी से सिर हिलाया कि हमें लगा हम किसी बड़े साहित्यात्मक के पास बैठे हैं। कहने लगे— 'साहब, आप जबलपुर शहर में रहते हैं। उसे छोड़कर आप चंदा करने क्यों आये ?' मैं जवाब दूँ इसके पहिले वे ही बोरे-

में गाढ़ दिया है।' करोड़ों आदमी पानी चाहते हैं और एक कोई नहीं चाहता; इसलिए वर्षा रुक गयी। करोड़ों यूनिट भलाई पर एक यूनिट बुराई की विजय पर कव से हम विश्वास कर रहे हैं। अभिशाप में वया हमारा वरदान से भी अधिक विश्वास है?

मेरा एक मित्र दोन्तीन घण्टे मेरे साथ बैठकर वादल निहारता है। विन वरसे सिर पर से निकल जाने वाले इन जल-पुञ्जों को हम बड़ी हविस से देखते हैं। कल मित्र देवते-देखते बोला, "वंकिमचन्द्र होते, तो मैं उनसे पूछता कि क्या यही तुम्हारी 'सुजलां सुफलां मलयज शीतलां शस्य श्यामलां' मातृभूमि है सुजलां? वाह, सावन का महीना सूखा जा रहा है। हर साल फसल प्यासी मर जाती है और वंकिम कहते हैं 'सुजलां'! और सुफलां कही हैं? किसी के अमरुद को हाथ तो लगा लो। सबा रुपये सेर के आम कितनों के लिए 'सुफल' हैं? और मलयजशीतलां? ? इधर वाएं तरफ से कारपोरेशन की नाली की दुर्गंध आ रही है और सामने से खुनी हवा के पाखाने की। शस्य राशि कहाँ है? दूसरे देशों से अन्न उधार लेकर इस स्वर्ग-भूमि के चालीस करोड़ देवता पेट भर रहे हैं। गाँवों में मनुष्य पशुओं का हिस्सा छीनकर खा रहे हैं। और वंकिम को 'शस्य श्यामलां' दिल रहा है।"

मित्र मेरा मसखरा आदमी है और हर मसखरा थोड़ा 'सिनिक' होता ही है। मजाक कमजोरी की ही होती है। कालिदास पर भी वह वेहद नाराज है। फहने लगा, "वया लिखा है कालिदास ने? अपाढ़ के प्रथम दिवस यक्ष को वादल दिल गया? सिर फिर गया था, उसका। यक्ष भी विरह में पागल ही गया था। यहाँ शावण के प्रथम दिवस वादल नहीं था और उसे अपाढ़ के प्रथम दिवस संदेश ले जाने को वादल मिल गया। प्रेमी और कवि ने मिलकर घड़ा झूठ गढ़ा! कहाँ हैं वे कवि जो वर्षा-मंगल गाते हैं, जो सावन की भड़ी को उट्टीपन बताते हैं? अगर अब किसी कवि को कवि सम्मेलन में वर्षा-गीत गाते देखा, तो पत्थर फेंककर मार दूँगा।" उसका सात्त्विक शोध चरम सीमा पर पहुँच गया।

कवियों की बात बहुत 'सीरियसली' ले लेने के कारण ही मेरा मित्र विद्युत्य था। मातृभूमि की सत्य—कल्पित महिमा के गीत सभी जातियों

में गाये जाते हैं। ध्रुव प्रदेश का निवासी जो दस फीट बर्फ सोइकर एक मछली निकालकर खाता है, वह भी गाता है कि धन्य है मेरा देश ! यह पृथ्वी पर स्वर्ग है। और रेगिस्तान का आदमी, जो कैंट का पेट चीरकर पानी निकालकर पीता है, वह भी गाता है कि बलिहारी है इस देश की ! जब आदमी ऐसे गीत गाकर मरन ही जाता है, तब नेताओं का बाम आसान हो जाता है। वे उसे सिखाते हैं—‘अब कहो कि मैं इस स्वर्गोपम मातृभूमि के लिए शीश कटा दूँगा।’ वह इसके बाद लोक-गीत गाते हुए भूखों भी मर लेंगे और युद्ध थेड दो तो सिर कटाने भी पहुँच जावेंगे।

अपना यह हाल है कि हमें विश्वासमय अभिमान है कि देवता वही भारत में अवतार लेते रहे हैं। पुराने भवत कवियों की बात छोड़िये; सन् १६५० में प्रकाशित एक अभक्त, राजनीतिक कर्म-प्रधान नेता वी एक पुस्तक में लिखा पाया कि देवता भगवान से प्रार्थना करते हैं कि हमें भारतवर्ष में अवतार लेने दिया जाय। पुराने भारतवर्ष के अब दो हिस्से हो गये। तीव्रा दो-चार देवता भूल से पाकिस्तान में जग्म न ले लेते होंगे ? प्रथमा क्या देवता हमारे राजनीतिक उलटफेरो के अनुसार चलते हैं ? देवगण अमेरिका या रूस में अवतार बद्दों नहीं लेना चाहते ? और अब भारत के एक भाग, साम्यवादी केरल में अवतार लेने के बारे में क्या स्थात है ?

हिमालय और गंगा-यमुना की पुण्ड-धारा पर भी हमारा बहुत अभिमान टिका हूँगा है। कितने गर्व से हम कहते हैं—‘हमारा देश सबसे महान है। उत्तर में विश्व का सबसे कौचा पर्वत हिमालय मस्तक ताने लड़ा है।’ जब कोई गर्व से ऐसा कहता है तो पूछने को मन करता है कि क्या तुम्हारे बाप ने हिमालय को बनाया है ? क्या हमारे बाप-दादोंने चट्ठान पर चट्ठान जमाकर नगाधिराज का निर्माण किया है ? पृथ्वी कभी सिकुड़ी यी और संयोग से वह सिकूड़न यहाँ ऐसी बड़ी हुई कि हिमालय पहाड़ उठ रहा है। इस ‘ऐक्सीडेन्ट’ पर गर्व करने की गुजाइश कही है ? पर वह का कैसा मोहक गर्व है हमारा ! कृतित्व पर गर्व हो तो एक बात है। सेविन

नगपति विश्व का सिरमोर हो गया, गंगा-यमुना का जल जब पापियों को स्वर्ग भेजने लगा और देवता यहीं अवतार लेने लगे, तो करने को कुछ रहा नहीं। देश तो वैसे ही महान् हो गया। विना किये जब माथा तन गया, तो करने का कष्ट क्यों करें? अकर्म का ऐसा बड़ा अनुष्ठान और कहीं नहीं हुआ होगा।

रही सही कमी वेदों की प्राचीनता ने पूरी कर दी। यह सत्य निवाद स्वीकृत हो गया कि ऋग्वेद दिश्व की सबसे प्रथम साहित्यिक रचना है। अभी तक तो कोई प्रतिद्वन्द्वी पैदा नहीं हुआ। पर मोहनजोदड़ो ने ऊपर आकर हमें डुवाया था। गनीमत है कि ईजिप्ट और चीन में अति प्राचीन खण्डहर मिल गये, वरना मोहनजोदड़ो की रचना के गवं में हम एक इंट भी नयी न रखते (यद्यपि वह आर्यों का निर्माण नहीं है)।

कुछ पेशेवर मुँह चिढ़ाने वाले मैंने देखे हैं, जो विश्व—मानवता की हर नई उपलब्धि को 'ऊँह' बोलते हैं। उनका कथन होता है कि प्राचीन काल में हमारे देश में वह चीज थी। संजय ने धूतराष्ट्र को 'टेलीविजन' में देखकर महाभारत को 'रनिंग 'कमेटरी' सुनाई थी। और दधीचि ने इन्द्र को जो वज्ज दिया था, वह वास्तव में एटम बम था !

यही सब सोचकर मैंने उस मित्र से कहा था, 'भाई, न बंकिम चन्द्र का दोष है, न कालिदास का, न रवीन्द्र का। ऐसे गवं गान से जाति की भावात्मक तुष्टि होती है और भूसे आदमी के मस्तक में भी तनाव आता है। सीमाएँ वांध रखने के लिए मानव-मस्तकों की आवश्यकता होती है और ऐसे गीत की भावना से सिर खुशी-खुशी दिया जा सकता है। इसलिए पानी बरसे या न बरसे; फल चाहे एक न मिले; नाक में सड़ांध वरावर पूसे; अकाल चाहे हर साल पढ़े—पर गाओ समवेत स्वर में 'सुजलां सुफलां मलयज शीतलां शस्य श्यामलां मातरम् !'

वेईमानी की परत

कपड़ा पहिनते-पहिनते छोटा हो जाता है, यह मैं मूल चुका या। कई सालों से ऐसी घटना हो नहीं पढ़ी थी। मैं उनमें से नहीं रहा, जो इस साल पेट सिलवाते हैं और अगले ही साल उसे पल्ली की पुरानी साढ़ी की किनार से बांधने लगते हैं। उच्चवर्गी और मध्यवर्गी में यही अन्तर है। उच्चवर्गी का पेट जब छोटा होता है, तो वह उसे आगे के लिए छोड़ देता है। पर मध्यवर्गी का कुछ 'आगे' के लिए नहीं होता; इसनिए वह स्त्री की फटी साढ़ी की किनार खोजने लगता है।

ठण्ड शुरू होने पर मैंने गरम शेरवानी निकाल कर पहिनी तो देखा कि बटनें नहीं तगती। पिताजी जब मेरे कपड़े सिलाने देते थे, तो दर्जी से कह देते थे—जरा बढ़ते शरीर का बनाना। जब से अपने कपड़े बनवाने का जिम्मा खुद लिया है, हर बार दर्जी से कहना चाहता हूँ—जरा घटते शरीर का बनाना। शरीर जब तक दूसरों पर लदा है, तब तक मुश्यता है। जब अपने ही कार चढ़ जाता है, तब दुबलाने लगता है। जिन्हें मोटे रहना है, वे दूसरों पर सदे रहने का मुश्यता कर लेते हैं—नेता जनता पर लदता है, साधु भवतों पर, भाचार्य महत्वाकांक्षी छात्रों पर और बड़ा साहब जूनियरों पर।

मुझे ऐसा कोई आसन नहीं मिला। फिर भी कुछ मोटा हो जाने की इच्छा मरी नहीं। जब भी सफर करता, रेस्वे प्लेटफार्म पर बजन तौलने की मशीन में १० पैसे हालकर बजन का टिकिट निकलता। टिकिट के दूसरे तरफ भाग्य-फल लिखा है, जो अक्सर १० पैसे के बदले में की गई चापलूसी होता है। इस देश की मशीनें भी चापलूसी करना सीख गयी हैं।

सिफं १० पैसे में कुछ ऐसी बातें कहती हैं—‘आपके विचार बहुत हैं। आप उनके अनुसार कार्य करेंगे, तो सफल होंगे’ मैं कहता हूँ—सिस्टम भी तो सच बोला करो। यह कोई तुम्हारा ‘स्टॉडर्ड’ है कि सिफं १०८ में—! मशीनों की राय पर मैं ज्यादा भरोसा नहीं करता, विशेषकर वह पर जो आदमी को तौलने के लिए जगह-जगह रखी हुई हैं। इनके मुंह १० पैसे ढाल दो तो तारीफ़ का एक वाक्य बोल देती हैं।

इसीलिए मैं किसी इनाम के लिए कभी किताब नहीं भेजता। अंसमीक्षकों के घरों में पुनर्जन्म होते रहते हैं, पर मैं वधाई के कार्ड ना लिख पाता। नतीजा यह कि वजन बढ़ता भी है, तो किसी मशीन विट्किट पर रिकार्ड नहीं होता। जमाने में वजन से ज्यादा उसके रिका का महत्व है। इसीलिए चतुर लोग दूसरे की गोद में बैठकर अपने तुलवा लेते हैं, और वहे वजन का टिकिट जेव में रखे रहते हैं।

इस बार जरूर वजन बढ़ा है। अब मशीन की धांधली नहीं चलेगी मुटाई के अहसास ने शरीर में ऐसी सनसनी पैदा की कि जी हुआ फैलक शेरवानी को तार-तार कर दूँ और ठंड उघाड़े बदन गुजार दूँ।

फिर मैं झेंपा भी। वजन बढ़ना तो लड़कपन की हरकत है। को-प्रौढ़ आदमी भी इस जमाने में क्यों मोटा होगा? लोग क्या सोचते? अनाज की दूकानों के सामने थैला हाथ में लिये क़तार में खड़ा आदम सूख रहा है। जब तक उसका नम्बर आता है, दाम बढ़ जाते हैं और घर से लाए पैसे कम पड़ जाते हैं। साधारण आदमी भी जहाजों के टाइम-टेविल याद रखने लगा है। अमेरिका से जहाज आयगा तो उसमें हमारे लिए गेहूँ होगा; जापान से आयेगा तो चावल होगा। अमेरिका में जहाजी कर्म-चारियों की हड़ताल से भारतीय जन चिन्तित हो जाता है। मुख्यमंत्री से हम में अन्तर्राष्ट्रीय चेतना आ गई। अगर अकाल पड़ जाय, तो हर भारतीय अपने को विश्व-मानव समझने लगेगा।

यह बवत भी कहीं मोटे होने का है! मैं शर्म से कमरे में छिपा बैठा रहा जैसे कुमारी गर्म को छिपाती है। मेरे देशवासियों, मुझ देशमंडल को माफ़ करना। भारत माता, क्षमा करना, तेरा यह एक कपूत मोटा हो गया। मैं तीसरी पंचवर्षीय योजना का एक भूठा आंकड़ा हूँ, जो तुम्हें धोखा

दे रहा है। सुव्रमन्यम, माफ करना यार, तुम्हारी सादा-व्यवस्था के बावजूद मैं मोटा हो गया। टी० टी० भाई, तुम भी मुझे माफ करो; मैंने तुम्हारी धर्मनीति का अपमान किया है। कन्हैयालाल मुंशी, अजितप्रसाद जैन, साधोबा पाटिल—मेरे पिछले सादा मंत्रियो, तुम्हारे सामने मैं शानिदा हूँ। चितामन देशमुख और मोरार जी भाई, मेरे भूतंपूर्व धर्म मंत्रियो, मैं तुम्हें मुँह दिखाने के काविल नहीं रहा। मैं पिछले १५ वर्षों की उलझी धर्मनीति और सादा-नीति के प्रति अपराधी हूँ।

ग्लानि से दुबला होने में देर लगती है और पानीदार ही दुबला होता है। मुझे इस बड़े शरीर की व्यवस्था करनी ही होगी। शेरवानी को एकलवाना ही पढ़ेगा। मैंने छोटे भाई से कहा। वह बहुत खुश हुआ और मुहल्ले में जितने लोगों को सूचित कर सकता था, कर आया कि मेरा भाई मोटा हो गया है। मैं हरा कि अभी लोग आयेंगे और कहेंगे—सुना है साहब, प्राप मोटे हो गये। बधाई है। ईश्वर सबको इसी तरह मोटा करे।

लेकिन शाम तक मैंने लज्जा-भाव को जीत लिया। इसमें क्या शर्म की बात है। मोटा हुआ है, तो मेरा ही शरीर हुआ है। मेरे कारण कोई दूसरा तो मोटा नहीं हुआ। मैं इशारे से इस उपलब्धि को बताने भी लगा। दोस्त ठंड की बात करते तो मैं बोच में कह देता—हाँ, ठंड सिर पर आ गई और हप्ते गर्म कपड़े छोटे पड़ गये। बटनें नहीं लगती।

दो-नोन दिनों में यह बात फैल गयी और मेरे एक बुजुर्ग रिश्तेदार यह कहते मेरे पर आये—कि लड़के ने बताया कि तुम मोटे हो गये। मैंने सोचा, चलो देख आये।

दुर्बलता का मैं अभ्यस्त हो गया था। गर्वपूर्वक दुबक्षा रह लेता था। कोई कृपि मोटा नहीं हुआ। वे सब मूसे और क्रोधी होते थे। कोई उनके चरण न छुए तो उसे शाप देकर बंदर बना देते थे। पर न मैं वैसा दुबला था, न वैसा क्रोधी। मैं ‘आजानुभूज’ और ‘आकठटांग’ बाला हूँ—याने बैठने में टीर्ग कंठ तक आ पहुँचती हैं। सोचता था, मूजामों और टीर्गों का जो प्रतिरिक्षित भाग है। वट बाकी शरीर से निपटा जाए—

कि इस श्रंग का कुछ काटकर उस श्रंग में चिपका दिया। प्रमाण चाहिए तो विहारी की यह पवित्र काफी है—‘कटि को कंचन काटि कै, कुचन मध्य घरि दीन।’ (इससे दोनों ठीक हो गए) एक और तरह की सर्जरी है, जिसमें विना चाकू के पेट काटा जा सकता है। वर्तमान सम्यता में इस रवत-हीन सर्जरी ने काफी उल्लंघन की है। जो दस-पाँच के पेट काट सके उसका पेट बड़ा हो जाता है। वे सारे पेट उसके पेट में चिपक जाते हैं। इस विद्या के विद्यालयों में मुझे प्रवेश नहीं मिला, बरना मैं भी यह सर्जरी सीख लेता और पेट बड़ा लेता।

यों हमारी पूरी दार्शनिक ट्रेनिंग देह के सिलाफ जाती है। देह की सेवा बड़ी हीन वात मानी गई है। दो-तीन साल पहिले एक मठाधीश स्वामाजी ने हमें यह वात अच्छी तरह समझा दी थी। वे अच्छे पुष्ट और गौरवण संन्यासी थे। तस्त पर वैठे थे और देह की तुच्छता पर ऐसा जोरदार प्रवचन कर रहे थे कि हमें अपने शरीर से घृणा होने लगी थी। अच्छे उपदेशक वे, जो अच्छी से अच्छी चीज के प्रति नफरत पैदा कर देते हैं। वे कह रहे थे—‘यह मलमूत्र की खान, यह गन्दा शरीर मिथ्या है, नाशवान है, क्षणमंगुर है। मूरख इसे स्वादिष्ट पकवान खिलाते हैं, इसे सजाते हैं, इस पर इन्ह चूपहते हैं। वे भूल जाते हैं कि एक दिन यह देह मिट्टी में मिलेगी और इसे कीड़े खायेंगे।’ इतने में एक सेवक के सरिया रबड़ी का गिलास लाया और स्वामीजी ने उसे गटक लिया। मेरे पापी मन में शंका उपजी। पर पास में वैठे एक भक्त ने समझाया—यह मत समझ लेना कि स्वामीजी स्वादिष्ट रबड़ी खाते हैं। प्रेरे, वे तो कीड़ों-मकोड़ों के खाने के लिए देह को पुष्ट और स्वादिष्ट बना रहे हैं। इस मृत देह को कीड़े खायें, तो उन्हें भी मजा आ जाय—यही सोचकर स्वामीजी रबड़ी पीते हैं। श्रद्धाहीन सोचते हैं कि स्वामीजी माल खाते हैं; यह नहीं जानते कि वे तो कीड़ों के लिए ‘डिनर’ बनाने में लगे हैं।

वह उपदेश आज काम आया। संतोष भी हुआ कि अगर स्वामीजी का ‘भेनू’ पहिले दर्जे का है तो मेरा भी दूसरे का तो ही ही गया। मैं मिथ्या गर्व से बच गया। जो सुशी थी, वह लोगों के सवालों ने छीन ली। लोग पूछने लगे—मोटे हो रहे हो। क्या वात है? मैं क्या जवाब देता। कह

दिया—स्वास्थ्य का स्वाल रखता हूँ। वह जो इगमी शिवानन्द की किताब है न, उसी के मुताबिक चल रहा हूँ। उसमें लिखा है—समय पर भोजन करना चाहिए, सूर्योस्त के बाद चाय नहीं पीनो चाहिये, अधिक रात तक नहीं जागना चाहिए, हल्का भोजन करना चाहिए, मदिरा प्राप्ति मादक द्रव्यों का मेवन नहीं करना चाहिए, मिचं-मसाले नहीं खाना चाहिए, मन मे दुरे विचारों को नहीं धाने देना चाहिये—

किसी को संतोष नहीं हुआ। सोग कहते—मजाक छोड़ो। सब बताप्तो, मोटे क्यों हो रहे हो? पीठ पीछे जब कोई यह प्रश्न करते, तो वह केंटीला हो जाता। वे धारास में कहते—वहे भाजकत मुटा रहा है। क्या बात है? मैं इस सवाल से पढ़ा उठा। मैं जब दुबला था, तब किसी ने प्रधान मंत्री से नहीं पूछा कि यह शस्त्र-दुबला क्यों है। किसी ने संविधान नहीं देखा कि इसमें नामरिकों के कर्तव्यों में दुबला होना लिखा है या नहीं। हम सब ने दुबले होने को प्रपनी नियति मान लिया है। कोई मोटा हो जाता है, तो हजार औरुलियों उठने समय है। जोग यह समझ रहे थे कि या तो मैं गौजा-शराब के 'स्पर्गलिंग' में सगा हूँ, या किसी संस्था का मंत्री बनकर चन्दा खा रहा हूँ, या कहीं से काला पेसा ले रहा हूँ, या घूसखोरी के लिए किसी का एजेंट हो गया हूँ। रोटी खाने से कोई मोटा नहीं होता, चन्दा या घूस खाने से मोटा होता है। बैद्यमानी के पेसे में ही पौष्टिक तत्त्व बचे हैं।

पिछले १७ सालों से मोटे होने वालों ने ऐसी परम्परा ढाली है कि ईमानदार को मोटे होने में फर लगता है। स्वस्थ रहने की हिम्मत नहीं होती।

मेरे एक दोस्त ने मुझे बताया है कि जिनकी तोंदें इन १७ सालों मे बढ़ी हैं, जिनके चेहरे सुख्ख हुए हैं, जिनके शरीर पर मास धाया है, जिनकी चर्ची बढ़ी है—उनके भोजन का एक प्रयोगशाला मे विश्लेषण करने पर पता चला है कि वे धनाज नहीं खाते थे; चन्दा, घूस, काला पेसा, दूसरे की मेहनत का पेसा यह पराया धन खाते थे। इसीलिए जब कोई मोटा होता दिखता है, तो सवाल उठते हैं। कोई विश्वास नहीं करता कि आदमी प्रपनी मेहनत से ईमान का पेसा कमाकर भी मोटा हो सकता है।

वैईमानी की तरह यह थोड़ा-सा मांस मेरे ऊपर चिपक गया है। मेरे दुश्मनों, एक वैज्ञानिक तथ्य तुम्हारे सामने है। मैं मोटा होकर कमज़ोर हो गया हूँ। मेरी वदनामी उड़ाने का ऐसा सुनहला अवसर तुम्हें कभी नहीं मिलेगा। तुम जल्द करो। मेरा क्या ठिकाना? मैं चार दिनों बाद फिर दुबला हो जाऊँगा। तब तुम हाथ मलते रह जाओगे।

